सहजानंद शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन

द्वितीय भाग

(अजीव अधिकार)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'नियमसार प्रवचन भाग 2'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें गाथा 20 से गाथा 37 तक के प्रवचन प्रस्तुत हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 1100/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी , गाँधीनगर, इन्दौर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्री सुरेशजी पांड्या, तिलकनगर, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी‘‘सहजानन्द’’ महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, ’सहजानन्द’ रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Contents

Contents

प्रकाशकीय 2

आत्मकीर्तन.....3

आत्म रमण 3

गाथा 20.....5

गाथा 25.....9

गाथा 26.....13

गाथा 27.....17

गाथा 28.....20

गाथा 29.....24

गाथा 30.....28

गाथा 31.....33

गाथा 32.....37

गाथा 33.....41

गाथा 34.....45

गाथा 35-36.....51

गाथा 37.....56

नियमसार प्रवचन द्वितीय भाग

[प्रवक्ता:—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज]

(जीव के स्वरूप का बंधाधिकार में वर्णन करके अब इस अधिकार में अजीव का वर्णन किया जा रहा है।)

गाथा 20

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो।।20।।

अजीवों में पुद्गल का प्रथम वर्णन—अजीव 5 प्रकार के होते हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन पांचों द्रव्यों में से पुद्गलद्रव्य स्पष्ट है और व्यावहारिक प्रयोग में अधिकतया आता है। इस कारण उन अजीवों के भेद में सर्वप्रथम पुद्गलद्रव्य का वर्णन किया जाता है। पुद्गलद्रव्य दो प्रकार का है—एक अणु और दूसरा स्कंध। यद्यपि पुद्गल के ये दो भेद नहीं हैं—परमाणु और स्कंध। स्कंध तो अनेक पुद्गलों के पिण्ड का नाम है, फिर भी स्वभावपुद्गल और विभावपुद्गल इस प्रकार दो भेद के आधार से परमाणु और स्कंध—ये दो भेद पुद्गल के मान लिए जाते हैं।

स्वभावपुद्गल और विभावपुद्गल—स्वभावपुद्गल वह है जो केवल पुद्गल है, एक है। अद्वितीय अद्वैतपुद्गल को स्वभावपुद्गल कहते हैं और जो अद्वैत नहीं है, वरन् निमित्त या नैमित्तिक के संयोगरूप है, वह विभावपुद्गल है। विभावपुद्गल स्कंध का नाम है, स्कंधावस्था पुद्गल के बंधनरूप अवस्था है, एक विशिष्ट संयोग की अवस्था है। स्कंध मटके में भरे हुए चनों की तरह परमाणुवों का पुञ्ज नहीं है। मटके में चने बंधे हुए नहीं हैं, किन्तु स्कंध में पुद्गलपरमाणु बंधे हुए हैं और ऐसे बंधे हुए हैं कि शुद्ध पुद्गल का कार्य नजर नहीं आता। स्कंध का काम होता है, इसलिए इस विभावअवस्था में अर्थात् अनेक द्रव्यों के संयोगरूपावस्था में हुए स्कंधों को भी पुद्गल कहते हैं। स्वभावपुद्गल नाम है परमाणु का और विभावपुद्गल नाम है स्कंधों का।

स्वभावपुद्गल के प्रकार—स्वभावपुद्गल भी दो प्रकार के हैं—एक कार्यपरमाणु और दूसरा कारणपरमाणु। बात वही एक है, कोई भिन्न-भिन्न जगह में ये दोनों पाए नहीं जाते कि कारणपरमाणु कोई और होता होगा और कार्यपरमाणु कोई और होता होगा। उसी प्रकार परमाणु में कारणता की मुख्यता से कारणपरमाणु का व्यपदेश है तथा जो कुछ होगा उसमें परिणमन भी है। एक ही परमाणु रहकर उस परमाणु के स्वरूप का आश्रय करके जो होगा, वह कार्यपरमाणु है। जो परमाणु का सहजस्वरूप है, उसका नाम है कारणपरमाणु और उस परमाणु का जो व्यक्तरूप है, जिसमें पांचों रसों में से एक रस है, पाँच वर्णों में से एक वर्ण है, दो गंधों में से एक गंध है और चार स्पर्शों में से दो स्पर्श हैं—ऐसे कार्यरूप परिणत परमाणु कार्यपरमाणु कहलाते हैं। परमाणु से अपना कोई वास्ता नहीं चल रहा है, इसलिए पुद्गलद्रव्य का स्वरूप भी जीव की तरह सूक्ष्म है और जैसे जीव अनेक चमत्कारों वाला है, इसी तरह यह पुद्गलपरमाणु भी अनेक चमत्कारों वाला है।

जीव और पुद्गल का चमत्कार—जीव का चमत्कार चेतन जाति का है और पुद्गल का चमत्कार पुद्गल जाति का है। ये कार्यपरमाणु एक समय में 14 राजू तक गति कर लेते हैं और जीव भी एक समय में 14 राजू तक गति कर लेता है। लोक के नीचे से निगोद जीव मरा और सिद्धलोक में निगोद बना तो वह भी गमन कर लेगा। परमाणु जैसे-जैसे विविक्त होते हैं, जैसे-जैसे वे न्यारे होते हैं तैसे ही तैसे उनमें शक्ति और चमत्कार प्रबल होता जाता है। जिस प्रकार जीव कर्मों में, शरीर में, बड़े-बड़े शरीरों में, मच्छ जैसी देहों में बड़े विस्तार और पिण्डरूप से बन जाता है, वैसे ही उसका चमत्कार कम होता है और जैसे ही शुद्ध हो जाता है, कर्म और शरीर के पिंडों से विविक्त होता है, हल्का होता हैं, चमत्कार बढ़ता है और जब जीव बिल्कुल अकेला हो जाता है तो उसका चमत्कार सर्वोत्कृष्ट हो जाता है। इसी तरह ये परमाणु जैसे-जैसे न्यारे होते हैं, अकेले रहते हैं, तैसे ही तैसे चमत्कार भी बढ़ता है। लोक में प्रयोग के लिए भी अणु की शक्ति अधिक बतायी है और स्कंधों की शक्ति कम बतायी है। अणुशक्ति रेल चलना, कारखाने चलाना और बड़े-बड़े विघात कर सकना आदि सब बातें आज के अविष्कार में सिद्ध की जा रही हैं। यद्यपि वे अणु नहीं हैं, किंतु स्कंधों की अपेक्षा वह सब अणुशक्तियों का संचय है।

स्कंधों के प्रकारों का निर्देश—स्वभावपुद्गल दो तरह के हैं—कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु। विभावपुद्गल 6 प्रकार के हैं, जिनको आगे की गाथाओं में बताया जाएगा, उन छहों के नाम ये हैं—स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म। इनका विवरण और उदाहरण सब आगे की गाथाओं में प्रकट होगा। इनको संक्षेप में यों समझ लीजिए कि जैसे पृथ्वी है वह स्थूल-स्थूल है—हाथ में ले लो, फेंक दो, रख दो, अत: यह स्थूल-स्थूल है। जल को हम ईंट-पत्थर की भांति रख नहीं सकते, यह बिखर जाता है, ढेला नहीं बन सकता, किंतु पकड़ में आता है, इस कारण जल स्थूल है। जैसे स्थूलसूक्ष्म छाया है, यह पृथ्वी की तरह धरी भी नहीं जा सकती कि इस छाया को संदूक में भरकर रख लें और जल की तरह पकड़ी भी नहीं जा सकती। छाया को कोई पकड़ नहीं सकता है, किन्तु दिखती जरूर है, यह स्थूलसूक्ष्म है। रूप, रस, गंध, स्पर्श—ये विषय सूक्ष्मस्थूल हैं। देखो, ये खूब समझ में आ रहे हैं, पर इन्हें देख भी नहीं सकते, छाया की तरह इनका मोटारूप नहीं है और कर्मो की योग्य पुद्गलवर्गणाए हैं, ये सूक्ष्म हैं। कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गल ये अतिसूक्ष्म हैं। यह सब वर्णन आगे की गाथाओं में आएगा, यहाँ तो परमाणु का स्वरूप विशेषरूप से समझो।

लोकयात्रा का साधन—अणु में गलन स्वभाव है। गलने से अणु पैदा होते हैं, बिखरने से, अलग होने से अणु बनते हैं और पूर जाने से, संचय हो जाने से स्कंध नाम पड़ता है। यो पुद्गल के इस क्रम से भेद कहे गए हैं कि मूल में वे दो प्रकार के हैं—स्वभावपुद्गल और विभावपुद्गल। स्वभावपुद्गल नाम है परमाणु का और विभावपुद्गल नाम है स्कंध का। स्वभावपुद्गल दो प्रकार के हैं—कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु और विभावपुद्गल 6 प्रकार के कहे गए हैं। इन पुद्गलपदार्थों के बिना लोकयात्रा नहीं बन सकती। शायद आप लोकयात्रा समझ गए होंगे। शिखरजी, गिरनारजी आदि की यात्रा इन पैसे पुद्गलों बिना न होती होगी। यही ध्यान में होगा तो यह भी थोड़ा-थोड़ा लगा लो, पर यहाँ तो लोकयात्रा से मतलब है कि यह संसारीजीव संसार में डोलता रहता है। इतनी लम्बी लोकयात्राए पुद्गल के बिना नहीं हो सकती हैं।

परेशानी की प्रायोजिका लोकयात्रा—भैया ! पुद्गलद्रव्य का जानना भी अतिआवश्यक है, जिसके सम्बन्ध से यह जीव भटक रहा है। जिससे हमें छूटना है, उस पुद्गल की भी तो बात देखो—कितनी लम्बी-लम्बी यह जीव यात्रा करता है? मरने के बाद तो बड़ी तेज यात्रा होती है। एक-एक समय में 7-7, 10-10, 14-14 राजू तक चला जाए—ऐसी लम्बी लोकयात्राए इस जीव की पुद्गलद्रव्य के बिना नहीं होतीं। यद्यपि एक समय में मुक्त जीव भी 7 राजू तक यात्रा करता है, किंतु उसे यात्रा नहीं कहते हैं। यात्रा तो वह है जहा यह जीव भटकता है, जिसके बाद फिर वापिस डोलता है, उसी का नाम यात्रा है। संसार जीव कहीं से कहीं भी पहुंचे, उसे फिर भी भटकना है। देखो तो, कहा-कहा भटककर आज मनुष्यभव में पैदा हो गए? यहाँ जो कुछ मिला, उसी में मग्न हो गए। है कुछ नहीं और मग्नता इतनी विकट है कि हैरानी हो रही है, छूट नहीं सकते। मन में दृढ़ता आए तो छूटने में भी विलम्ब नहीं है, पर दृढ़ता नहीं ला सकते और है कुछ नहीं। कहीं के पटके आज यहाँ हैं, यहाँ से गुजरकर कल कहीं पहुंच गए, कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं है। लेकिन यह लोकयात्रा इस जीव को परेशान कर देती है।

परेशानी शब्द का भाव—परेशान शब्द का अर्थ क्या है? परेशान शब्द है तो उर्दू का, पर इसका संस्कृत में अर्थ होता है 'पर है ईशान जिसका'। उसे कहते हैं परेशान। परेशान का जो परिणाम है उसका नाम परेशानी है। ईशान मायने मालिक, परपदार्थ है मालिक जिसका। उस जीव को कहते हैं परेशान। जिसने अपने को पर के लिए सौंप रखा है, मैं तो इसका हू—ऐसा जिसने भाव बनाया है, उसका नाम है परेशान अर्थात् परतन्त्र और परेशान का परिणाम है परेशानी अर्थात् परतन्त्रता। यहाँ इस जीव को परेशानी है पुद्गल के सम्बन्ध से। इसमें भी मूल अपराध अपना है। पुद्गल का क्या अपराध है? वह तो अचेतन है, उसमें तो कोई आशय ही नहीं है। उसने क्या अपराध किया? अपराध है यहाँ खुद का कि जो अपने सहजज्ञानस्वरूप से चिगकर अज्ञानभाव में रत हो रहे हैं। अज्ञानभाव है विषय और कषाय के परिणाम। उन विषयकषायों में रति होने के कारण यह जीव अपराधी है, जिससे यह दु:खी है, परेशान है।

[नोट:—यहाँ इस प्रसंग से आगे की कुछ हस्तलिपि गुम हो गई है। अत: इसका हमें अफसोस है।]

कर्म की भिन्नता व निमित्तनैमित्तिकता—इन कर्मों को टालने के लिए जीव समर्थ नहीं है ऐसा लोग कहते हैं। यह बात पूर्णरूप से ठीक है, कर्म तो परद्रव्य है। आत्मा कैसे टालेगा? अपने विभावों को उपयोग से हटाकर शुद्ध ज्ञानस्वरूप में पहुंचे—ऐसी बात तो की जा सकती है। कर्म अपने आप टल जायेंगे, मिट जायेंगे। उनको मिटाने का लक्ष्य बनाकर कोई यत्न करे तो मिटता नहीं है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की प्रधानता रखकर विनती और स्तुतियों में अनेक बातें पायी जाती हैं, वे असत्य नहीं हैं, किंतु उनका मर्म जानना चाहिए। जैसे कहते हैं कि 'कर्म महारिपु जोर, एक न काम करे जी' कितना भी कहो एक भी प्रार्थना नहीं सुनते—ऐसे महारिपु ये कर्म हैं। सो मनमाना देख लो, किसी से नहीं डरते हैं। अरे ! वे बेचारे अचेतन खुद अपनी परिणति से विभावरूप परिणमने वाले ईमानदार हैं। कभी धोखा नहीं देते, जैसे हैं तैसे ही सामने हैं। उन कर्मो का निमित्त पाकर यह जीव दु:खी होता है। इस सम्बन्ध को लेकर उस ओर से यह बात कही जाती है और फिर प्रभु से हम विनती करते हैं कि 'दुष्टन देउ निकारि साधुन को रख लीजै' अर्थात् इन दुष्ट

कर्मों को हे भगवान ! निकाल दो और जो हम साधु हैं, बड़े अच्छे हैं, हमें रख लीजिए अथवा हममें जो गुण भरे हैं, उनको तो ठीक कर दो और इन कर्मों को निकाल दो। यह कर्मों की प्रधानता का स्तवन है।

स्तवनपद्धतियां—कभी तो निमित्तों की प्रधानता का स्तवन होता है। जैसे मानों भगवान के ऊपर दया करके कहते हो कि हे भगवान् ! तुम अनगिनते जीवों को तारते-तारते थक गए हो, इसलिए तारना तो हमें भी, पर धीरे-धीरे तारना। भगवान पर दया कर रहे हैं। थके-थकाये भगवान को सता नहीं रहे हैं कि हमें जल्दी-जल्दी तारो, बल्कि कह रहे हैं कि हमें धीरे-धीरे तारो। बड़ी दया की दृष्टि जाहिर करके भगवान की स्तुति जाहिर की जा रही है और कहीं कुछ उनके उलहाने की दृष्टि से उनकी स्तुति कर दी जाती है। हमें क्यों नहीं तारते भगवन? हमें क्या है? न तारो, पर बुराई तुम्हारी ही होगी कि ये कैसे तारनतरन है कि यह भक्त तो ऐसी निष्कपट भक्ति कर रहा है और भगवान कुछ विवेक भी नहीं करते। अत: कितने ही प्रकार से स्तुतियां की जाती हैं।

कर्म पर अवशता—कर्मों का सम्बन्ध बताकर प्रभु से निवेदनरूप जो इस प्रकार की स्तुतियां की जाती हैं, वे निमित्त की प्रधानता रखकर की जाती हैं। ये हैं और जीव के साथ निमित्तनैमित्तिक बन्धन को लिए हुए हैं, पुद्गलस्कंध हैं, फिर भी ये परपदार्थ हैं, इन पर हमारा बस नहीं है। हमारा बस निजविभावों पर है, स्वभाव पर है। ये कर्म सूक्ष्मविभावपुद्गल हैं।

सूक्ष्मसूक्ष्मविभावपुद्गल—अब सूक्ष्मसूक्ष्मविभावपुद्गल की बात सुनिए। हैं तो कार्माणवर्गणाए, जाति तो वही है, फिर भी उनमें अनन्तवर्गणाए ऐसी रहती हैं कि वे कर्मरूप बन ही नहीं पातीं, वे सूक्ष्मसूक्ष्मपुद्गलस्कंध कहे गए हैं। कर्म बनने के अयोग्य कार्माणवर्गणायें सूमसूक्ष्मविभावपुद्गल हैं।

अविवेक नाट्य—यह जीव नाना प्रकार के देहों में बंध-बंधकर उस काल में एक विभावपर्यायरूप बनकर इस लोक में बड़ा नृत्य कर रहा है। अत: जीव के स्वरूप को देखो कि वह तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है। जितना यह नृत्य हो रहा है, यह अविवेक का नृत्य है। इस अविवेक के नृत्य में वर्णादिक पुद्गल नाचते हैं। ये पुद्गल ही अनेक प्रकार से दिखाई देते हैं। जीव तो अनेक प्रकार का है नहीं। मूल में जीव तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है और ये पुद्गलस्कंध नानारूप हैं। अत: जो एक ही आत्मतत्त्व है, वह तो जैसा है वहीं अवस्थित है। जिस दृष्टि को लेकर अपरिणामवाद ने यह बात जाहिर की है कि आत्मा एक है, सर्वत्रव्यापक है, उसकी छाया पाकर ये मन और शरीर सब जीवरूप पर्यायों को रखते हैं।

स्याद्वाद व पक्षाग्रह से सत्यता व असत्यता—जैनसिद्धान्त की भाषा में आत्मस्वरूप को आत्मा मान लिया जाए तो वे सब बातें घटित हो जाती हैं। आत्मद्रव्य तो प्रतिव्यक्ति जुदा-जुदा है, उसका समस्त परिणमन जुदा-जुदा है, किन्तु उन सबका स्वरूप क्या जुदा-जुदा है? स्वलक्षण और स्वभाव जो एक जीव का स्वरूप है, वही दूसरे जीव का भी स्वरूप है। केवल स्वरूपदृष्टि को ही लखा जाए तो वह एक है, किन्तु स्वरूपदृष्टि से लखने की तो बात थी और लखने लगे प्रदेशवान की दृष्टि से तो वह कथन अब स्याद्वाद से मेल नहीं खाता है। जैसे अंधे को बताना तो है खीर का स्वाद, पर खीर जैसा सफेद बगुला होता है। अत: बगुला की जैसी चोंच हाथ को बनाकर अंधे के आगे रख दे तो जैसे वह विडम्बना है, वैसे ही आत्मस्वरूप की दृष्टि से जो विवरण है, वह व्यापक है, एक है, अपरिणामी है। सब सही बातें हैं, किन्तु उस विषय को स्वभाव की

दृष्टि से न तककर, बल्कि स्वभाववान् यह आत्मा है और आत्मपदार्थ है, प्रदेशवान् है, ऐसे धीरे-धीरे फैलकर, ऐसे तत्त्व की ओर झुककर सर्वथा जब यह कहा जाने लगा कि आत्मा तो एक है, व्यापक है, भिन्न-भिन्न तो है ही नहीं। जीव के यह भ्रम हो गया है कि मैं अमुक हू, अमुक हू और इस भ्रम से संसार में भटकता है, ऐसा कथन बन गया है।

प्रकरण से प्राप्तव्य शिक्षा—स्वभावदृष्टि से देखो तो जीव एकस्वरूप है, वह नृत्य नहीं करता, किन्तु इस अविवेक के नाच में ये वर्णादिमान् पुद्गल ही नृत्य करते है। यह जीव तो रागादिकपुद्गलविकारों से रहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप है—ऐसी भावना के लिए यह वर्णन चल रहा है।

निवर्त्यमान पदार्थों के परिज्ञान की आवश्यकता—6 प्रकार के विभावपुद्गलों का अभी वर्णन किया गया है। नाना प्रकार के पुद्गल यद्यपि दिख रहे हैं, किन्तु है भव्य पुरुषोत्तम ! तुम उन किन्हीं भी पुद्गलों में प्रेमभाव को मत करो। जिनमें प्रीति नहीं करनी, जिनमें मोह नहीं बसाना, उन पुद्गलों का अभी वर्णन चल रहा था। जिससे प्रीति नहीं करनी, उनको यह बताने की आवश्यकता हुई है कि अनादि से ये जीव उनमें मोह किए आ रहे हैं। जिनमें मोह किए आ रहे हैं, उनकी असलियत न मालूम पड़े तो वहाँ से मोह कैसे हटाया जाय? ये समस्त पुद्गल जड़ हैं, मूर्तिक हैं, मेरे चित्स्वभाव से अत्यन्त भिन्न हैं, उन पुद्गलों में हे भव्य पुरुषोत्तम ! तू रति भाव को मत कर।

पररतिपरिहार व निजरतिपरिहार—भैया ! रति तो चैतन्य चमत्कार मात्र अपना जो आत्मस्वरूप है उसमें कर। इसके प्रताप से तू परम श्री जो अनन्तचतुष्टय लक्ष्मी है उसका अधिकारी होगा। ये पुद्गल के वर्णन राग करने के लिए नहीं किए गए हैं किन्तु राग हटाने के लिए किए गए हैं। इनमें तेरा कोई गुण नहीं है। इन पुद्गलों में दृष्टि लगाकर इनमें ही संग्रह विग्रह की कल्पनाए करके अपना घात क्यों किया करते हो? इन सब पुद्गलों से अत्यन्ताभाव रखने वाले इस निज चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मतत्त्व को देखो।

पुद्गल के प्रकरण में सर्वप्रथम कारणपरमाणुओं, और कार्यपरमाणुओं का जिक्र किया था। अब उस ही स्वभावपुद्गल के इन दो भागों का वर्णन श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव करते हैं।

गाथा 25

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णयो।
खंधाणं अवसाणं णादव्वो कज्जपरमणु।।25।।

कारणपरमाणु और धातुचतुष्क—कारणपरमाणु तो वह है जो चारों धातुओं का कारण होता है। चार धातुएं हैं– पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। यद्यपि देखने में वनस्पति भी एक स्वतंत्र काय है और दो इन्द्रिय आदिक पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के शरीर भी काय हैं और धातु चतुष्टय इन दोनों का ग्रहण नहीं करता है फिर भी ग्रहण हो जाता है। जो कड़ी चीज है पिण्डरूप चीज है वह सब पृथ्वी तत्त्व में आ गया। यद्यपि भिन्न क्षयोपशम वाले जीवों के भेद से पृथ्वी में और मनुष्यादिक शरीरों में भेद है, फिर भी पिण्डरूपता की दृष्टि से स्थूलपने की दृष्टि से यह सब पृथ्वी मान लीजिए।

पिण्डरूप कायों को पृथ्वी में गर्भित की जा सकने की दृष्टि—पृथ्वी में ये सब पिण्डात्मक चीजें आ गयीं। पेड़ होना, कीड़ा-मकोड़ा का शरीर होना, मनुष्य का शरीर होना ये सब पृथ्वी में मान लिए गए। व्यवहार में भी कहते हैं कि यह मिट्टी है शरीर के जलने पर कहते हैं कि मिट्टी मिट्टी में मिल गयी तो एक दृष्टि से जितने ये पिण्डात्मक काय हैं वे पृथ्वी कहलाते हैं।

जल धातु—पृथ्वी की जाति से जल भिन्न जाति का है, वह प्रवाही है। कोई पिण्ड रूप नहीं है। जैसे चौकी का एक हिस्सा पकड़ कर ले जावो तो सारी चौकी जाती है, पृथ्वी के ढेले को जरा भी पकड़कर खींचो तो सब खिंच आता है इस तरह पानी तो नहीं है कि मुट्ठी में पानी पकड़कर खींच ले तो कुवे का सारा पानी खींचा चला आए। वह ऐसा स्थूल पिण्डात्मक नहीं है।

अग्नि व वायुनामक धातु—जल की जाति से अग्नि जुदी चीज है। परस्पर दोनों विरोधी हैं। जल आग को मिटा देता है और आग जल को खौला देती है। ये मूषक बिलाव जैसे परस्पर विरोधी हैं। देखो इसीलिए आचार्यों ने जो 5 स्थावरों का सूत्र बनाया है—''पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतय: स्थावरा:'' पृथ्वी, जल, अग्नि , वायु, वनस्पति। तो पहिले की जो तीन चीजें हैं पृथ्वी, जल और आग, इन तीनों के बीच में जल रखा है। बीच में जल नहीं आवे और पृथ्वी और आग समीप हो जायें तो क्या हाल हो सब भस्म हो जायें। यह शब्दों की बात कह रहे हैं। परसोनीफिकेशन अलंकार में देखो तो जल और आग दो विरोधी जाति की दो धातुएं हैं। वायु यह भी विचित्र जाति का है। वायु चलती है और शरीर में लगती है, आंखों नहीं दिखती।

धातुचतुष्क की एकद्रव्यता—ये चार धातुएं हैं, इनकी जाति न्यारी-न्यारी है। प्रकरणवश जितनी सीमा में न्यारा-न्यारापन दिखता है उतना ही देखता है यह जीव। वैसे तो ये चारों एक पुद्गल जाति के हैं। ये भिन्न-भिन्न जाति के चार तत्त्व नहीं हैं।

पदार्थों की जातियों के सम्बन्ध में बेमेल दर्शन—देखो कुछ दार्शनिकों की बात कि चार महाभूतों को तो स्वतंत्र-स्वतंत्र तत्त्व कहते हैं जो कि मूल में एक जातिरूप हैं। पृथ्वी जल बन जाय, जल आग बन जाय। आग हवा बन जाय, जो चाहे जो बन जाये। ऐसे जो भिन्न-भिन्न जाति के नहीं हैं उन्हें तो स्वतंत्र चार तत्त्व कहा और चैतन्य (जीव) जो कि अत्यन्त पृथक् जाति का है उसे कहते हैं कि भूत से उत्पन्न हुआ, पृथ्वी, जल, आग, वायु से बना। कितनी बेमेल बात कही जा रही है? जो एक है उसे तो अनेक में रख दिया, जो विलक्षण नहीं है उन्हें तो विलक्षण मान लिया और जो इन चारों से अत्यन्त विलक्षण हैं ऐसे चैतन्य तत्त्वों को भूतों से उत्पन्न हुआ मान लिया। पृथ्वी, जल, आग और वायु एक में मिल जायें तो क्या जीव बन जाता है। ऐसा कहने पर बड़ा घपला हो जायेगा। कहीं मिट्टी की हंडी में चूल्हे पर कढ़ी बनाये तो उसमें से आदमी, शेर आदि निकलने चाहियें क्योंकि वहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु चारों चीजें मिल गयी हैं। देखो जो अत्यन्त विलक्षण तत्त्व है चैतन्य, उसे तो मान लिया गया कि भूतों से उत्पन्न हुआ और ये भूत पृथ्वी, जल, अग्नि , वायु जो एक पुद्गल के परिणमन हैं उन्हें भिन्न मान लिया गया।

धातुचतुष्कों का परिवर्तन—बताओ पृथ्वी कभी जल बन सकती है या नहीं? बन जाती है। चन्द्रकांतमणि या और भी अनेक दृष्टांत हैं वे गल जाते हैं और पानी हो जाते हैं। जल आग बन जाता है कि नहीं? बन जाता है। जब जल गरम हो जाता है, गरमी का रूप रख लेता है तो उसमें अग्नितत्त्व आ गया अथवा कालान्तर में

जल के अणु आगरूप बन सकते हैं पृथ्वी आग बन जाती है कि नहीं? बन जाती है। कोयला, लकड़ी, पत्थर ये सब आग बन जाते हैं। कोई कुछ बन जाय, यह सम्भव है इन चारों में।

प्रत्येक धातु में गुणचतुष्कता के सम्बन्ध में चर्चा—इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह कहते हैं कि पृथ्वी में तो गंध पायी जाती है। पृथ्वी का लक्षण गंध है और पानी का लक्षण है रस और आग का लक्षण है रूप और वायु का लक्षण है स्पर्श। उनका कहना है कि पृथ्वी में गंध ही पायी जाती है और जल में रस ही पाया जाता है और ऐसा मानते भी हैं कि लोग भी झटिति जल में रस तो आप समझेंगे और अग्नि में रूप समझेंगे और हवा में स्पर्श समझेंगे और इतना तो जल्दी ध्यान में आयेगा कि हवा में स्पर्श के सिवाय कुछ नहीं है। न रूप देखने को मिलता है, न गंध, न रस। किसी हवा में कोई गंध आ जाय तो उसे हवा की गंध नहीं कहते, किन्तु जिन कूड़ा कचरों को बिखेरती हुई हवा आयी है उन कूड़ा कचरों की गंध है। कूड़ा कचरा है पृथ्वी।

प्रत्येक धातु में गुणचतुष्कता—भैया ! वास्तविक बात यह है कि पृथ्वी में भी रूप, रस, गंध, स्पर्श चारों गुण हैं, जल में भी चारों गुण हैं अग्नि में भी चारों हैं और वायु में भी चारों हैं। चाहे आपको कोई चीज मालूम पड़े अथवा न मालूम पड़े। यह नियम है कि इन चारों विषयों में से एक भी चीज हो तो ये चारों ही होंगे। अग्नि किसी ने चखी है क्या कि वह खट्टी होती है या मीठी? शान में आकर कहीं चखने नहीं बैठ जाना। कोई रस तो अग्नि में नहीं चखा गया, फिर भी उसमें रस है, अव्यक्त है। चारों में चारों गुण पाये जाते हैं। पृथ्वी की बात तो जल्दी समझ में आ जायेगी कि उसमें रूप है, रस है, गंध है, स्पर्श है। जल की बात जरा कम समझ में आएगी। जल में गंध जल्दी नहीं मालूम होती, रूप दिख जाता है, रस दिख जाता है, स्पर्श दिख जाता है पर गंध नहीं मालूम पड़ती। पर गंध भी है उसमें। हवा में केवल स्पर्श मालूम होता है पर है उसमें भी सब। एक भी न हो तो ऐसी बात नहीं है। ऐसे ही अनुमान कर लो कि जो जिस चीज को बनाती है जिसने बनाया उसमें जो गुण होंगे वे कार्य में भी गुण आ गये। मिट्टी का घड़ा बनता है तो मिट्टी में जो गुण पाया जाय वह घड़ा बनने पर भी उसमें रहता है।

हवा में भी गुणचतुष्कता—अच्छा देखिये– एक अनाज आता है जौ। जौ बहुत सस्ता अनाज था, तब लोग जौ भी खूब खाते थे। अब इतना महंगा अनाज हो गया, फिर भी जौ बहुत कम लोग खाने वाले होंगे। देखो कितनी विचित्र बात है? जौ मैं बतावो कि रूप है या नहीं? है। इसमें रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है। जौ से हवा बनती है पेट में। जौ खा लो तो उससे भारी हवा बनती है, जौ परेशान करती है। यह हवा पेट में नीचे से निकल जाती है। इससे हवा बहुत बनती है। उस हवा में भी चारों गुण हैं। मालूम पड़े अथवा न मालूम पड़े, समस्त पुद्गलों में चारों गुण हैं। बांस तो पृथ्वी है ना, प्रकरण के अनुसार चारों धातुओं में सबको गर्भित करना है। बांसों के आपस में रगड़ खाने से आग पैदा हो जाती हैं। जिसके उपादान में ये चारों चीजें हैं, उसके कार्य में भी चारों बातें हैं। इस तरह ये चारों के चारों ही धातुएं एक पुद्गल जाति में आयीं, लेकिन कुछ सीमा तक इसमें जातियां बन गयीं और उन दृष्टियों से पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होते हैं।

परमाणुवों में धातु की कारणरूपता—चारों धातुओं का जो कारणरूप है, उसे कारणपरमाणु जानों अर्थात् परमाणु की व्यक्त शक्ल किन रूपों में हुआ करती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि धातुवों के रूप में। यह तो हुआ कारणपरमाणु। जो इन चार धातुओं का बीजभूत है और इन स्कंधों का जो अवसान है, बिछुड़ते-बिछुड़ते जो अंतिम अविनाशी अंश है, उसे कार्यपरमाणु कहते हैं। वह परमाणु था नहीं परमाणु के रूप में, अब विघटते-विघटते वह परमाणु रह गया, अविभाज्य अंश रह गया। परमाणु अंश नहीं है, अंशी है, परिपूर्ण है, अविभाज्य है, वह कार्यपरमाणु कहलाता है। इस गाथा में कारणपरमाणु द्रव्य का और कार्यपरमाणु द्रव्य का स्वरूप बताया गया है। जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—इन चार धातुओं का कारणभूत है, उसे तो कारणपरमाणु कहते हैं।

परमाणुओं की बन्ध्यरूपता—वह कारणपरमाणु जब जघन्यपरमाणु रह जाता है अर्थात् स्निग्धरूक्ष गुण की जब वहाँ अनन्तता नहीं रहती है, जघन्य अंशित्त्व को किए रहता है, तब चाहे एक जाति के हों अथवा भिन्न जाति के हों, वे बंध के अयोग्य हैं। पुद्गलपरमाणुओं में जो कि अलग बिखरे हुए हैं, वे स्कंध बनें, मिल जायें इसका कारण तो वहाँ है स्निग्ध और रूक्षगुण। जो वर्णन चलता है स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः, वह परमाणु-परमाणु के लिए बात है। स्कंध और स्कंधों का वर्णन नहीं है कि इस प्रकार से वे एक दूसरे को अपने रूप परिणम लें, किन्तु परमाणुओं में यह बात है कि कोई अजघन्यगुणी चिकना परमाणु हो और उससे दो गुण अधिक परमाणु हो तो वे दोनों एक स्कंध बन जायेंगे और वह स्कंध सारा रूक्ष हो जायेगा। जो गुण अधिक है, उसी रूप दूसरा परिणम जायेगा।

परमाणुओं के बंधन का कारण—यह बंधन स्निग्धरूक्षगुण के कारण होता है। ठण्ड-गरमी के कारण नहीं कि एक ठण्डा परमाणु हो और एक गरम परमाणु हो अथवा एक कम ठण्डा हो, दूसरा अधिक ठण्डा हो और वे परमाणु मिल जायें, एक बंध हो जाये—ऐसा उस गुण के कारण एक बंधन नहीं होता है। स्निग्धरूक्षगुण जब अपनी बंधनयोग्य की सीमा में जितने अंश होना चाहिये, उन अंशों से ऊपर हो और अन्याणु में अधिक दो गुण हो जायें तो उसका परस्पर में जो बंध है वह समबंध है और तीन गुण अधिक वाले परमाणुओं का पाँच गुण अधिक वाले परमाणुओं के साथ बंधन होने को विषमबंध कहते हैं। यह चर्चा है परमाणुओं की।

पुद्गलों की परिस्थितियां—उन परमाणुओं के जानने से क्या फायदा और न जानने से क्या बिगाड़? हो गए रहने दो। इतना जानना तो आवश्यक है कि आत्मातिरिक्त अन्य सब पदार्थों से अत्यन्त पृथक् हू, फिर भी जितना अधिक बोध होगा, उतनी ही भेदविज्ञान की विशदता प्रबलता में सहायता होगी। अब जो अनन्तगुणों से ऊपर दो गुण, चार गुण आदि का बंधन कहा गया है, वह उत्कृष्ट परमाणु की बात है। वैसे उसमें कम अंश के भी स्निग्ध और रूक्ष में बंध होता है, पर जघन्यगुण वाले के साथ बंध नहीं होता है। यह आचार्यदेव के द्वारा सर्वज्ञ प्रतीत उपदेश बताया गया है। ये बिखरे हुए परमाणु किस ढंग से ऐसे एक स्कंधरूप हो जाते हैं कि उसमें परमाणु सम्बन्धी कार्य अब व्यक्त नहीं होता। चौकी के रूप में परमाणुओं का पुञ्ज हो गया तो अब परमाणु परमाणु के रूप में परिणमन व्यक्त कर सके, यह बात अब कहा है? जला दो तो जल जायेगा। परमाणु कहीं जलते भी हैं? अतः ये अणु इस प्रकार स्निग्धरूक्षगुण के कारण बंधन को प्राप्त होते हैं।

अणुओं के प्रकार—चार प्रकार के अणु हैं—कारणपरमाणु, कार्यपरमाणु, जघन्यपरमाणु, उत्कृष्टपरमाणु और मध्य के भेद लगावो तो परमाणु के अनन्त भेद हो जाते हैं। उस परमाणुद्रव्य में विभावपुद्गल नहीं आये हैं। विभाव नाम है स्कंधपरिणमन का—ऐसा विभाव का भेद है। वे अणु अपने स्वरूप में स्थित हैं।

पारिणामिक भाव और परिणाम का अनिवार्य सम्बन्ध—कारणपरमाणुओं का परमस्वभाव है पारिणामिक भाव। पारिणामिक भाव केवल चेतन में ही नहीं होता है, बल्कि समस्त द्रव्यों में पारिणामिक भाव है। वह एक स्वभाव जो कि परिणमन का आधार स्रोतभूत है, जिसका परिणमन ही प्रयोजन है, उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। हे पारिणामिक भाव ! तुम किसलिये हो? जरा जवाब तो दो। उसका जवाब यही होगा कि हमें कुछ मतलब नहीं है, हम तो परिणमन के लिये हैं। ध्रौव्य का प्रयोजन है उत्पादव्यय और उत्पादव्यय का प्रयोजन है ध्रौव्य। ये चीजें क्यों बनती बिगड़ती हैं? क्या उत्तर होगा? बने रहने के लिए बनती-बिगड़ती हैं, ये चीजें क्यों बनी रहती हैं? बनने-बिगड़ने के लिए बनी रहती हैं। यह सब पारिणामिक भाव प्रत्येक पदार्थ में होता है।

पुद्गल के परिज्ञान का प्रयोजन—अजीवाधिकार में और अजीव में मुख्य, जिसके साथ प्रकट निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध आत्मा का चलना है—ऐसे पुद्गल का वर्णन चल रहा है। पुद्गल दो प्रकार के हैं—स्वभाव पुद्गल और विभाव पुद्गल। स्वभाव पुद्गल दो प्रकार के हैं– कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु। विभावपुद्गल 6 प्रकार के हैं, जिनका इस गाथा में वर्णन है ही। इन सब पुद्गलों को जानकर ज्ञानीसंत यह भावना करता है कि ये सब पुद्गल हैं, किन्तु इन 6 प्रकार के स्कंधों से मेरा क्या प्रयोजन और चार प्रकार के अणुओं से अथवा दो प्रकार के अणुओं से मेरा क्या प्रयोजन? मैं तो अविनाशी शुद्ध आत्मा का आराधन करू। प्रकरण अजीवाधिकार का है और उसमें सर्वप्रथम पुद्गल का प्रसंग है। उस प्रसंग में अब परमाणु का स्वरूप बता रहे हैं।

गाथा 26

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियग्रोज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि।।26।।

परमाणु का लक्षण—आत्मा ही जिसका आदि है, आत्मा का अर्थ है अपन स्वयं। परमाणु का परमाणु ही स्वयं आत्मा है और वही स्वयं मध्य और वही जिसका अंत है। जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण में नहीं आता—ऐसा जो एक अविनाशीद्रव्य है; रूप, रस, गंध, स्पर्शगुणमय है, उसको तुम परमाणु जानो। बहुत पतली निब से एक छोटा बिन्दु बना दो, जिससे और छोटा बिन्दु हो ही न सके—ऐसा कल्पना में समझो तो उस बिन्दु का आदि व अंत अगर जुदा-जुदा है तो वह बिन्दु छोटा नहीं है, बड़ा है। छोटा बिन्दु वह होता है, जिसका आदि भी वही है, अन्त भी वही है और मध्य भी वही है।

परमाणुद्रव्य एकप्रदेशी होता है। उस एकप्रदेशी परमाणु में यह विभाग कहा से किया जाये कि छोर तो यह है तथा ओर यह है। वह तो एक अद्वैत प्रदेशमात्र है, इसलिये स्वयं ही आदि है, स्वयं ही मध्य है और स्वयं ही अन्त है। वह इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य तो कितने ही स्कंध भी नहीं होते हैं।

परमाणु तो इन्द्रिय ग्राह्य है ही नहीं। ऐसा जो अविभागी मूर्तिक द्रव्य है वह परमाणु है। एक चीज उतनी कहलाती है जिसका कोई दूसरा विभाग न हो। कोई विभाग हो जाये तो समझना चाहिये कि वह एक चीज न थी, अनेक चीजें मिली हुई थीं और वे बिखर गयीं। जैसे दिखने में आने वाली चौकी, भींतादिक ये सब बिखर जाते हैं, टूट जाते हैं, ये एक चीज नहीं कहलाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा वे ग्राह्य नहीं हैं वरन् अविभागी हैं। एक का टुकड़ा नहीं होता यह पूर्ण नियम है और हो गया टुकड़ा तो समझ लो कि वह एक चीज न थी।

जीव और पुद्गल की सन्मात्रता—जैसे सभी जीव निगोद से लेकर सिद्धपर्यन्त अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते। उन्हें सहज परमपारिणामिक भाव की विवक्षा का आश्रय लेकर देखें तो इस निश्चयनय के द्वारा कोई कभी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता, यह दृष्ट होगा। आत्मा का स्वरूप है शुद्ध ज्ञानस्वभाव, ज्ञानज्योति, प्रतिभासमात्र। यह प्रतिभासात्मकता किसी भी जीव से अलग नहीं होती है और परमपारिणामिक भाव का लक्ष्य कराने वाले सहज निश्चयनय से देखा जाये तो वह चूंकि स्वरूपमात्र दिखता है, अत: उस दृष्टि में जीव-जीव के कहने में भी अन्तर नहीं है। वह अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होता। कोई जीव चैतन्यात्मकता को छोड़कर अचेतन बन जाये—ऐसा कभी नहीं होगा। अब जरा इस सीमा से भी बढ़कर सामान्य गुण पर आयें तो वह सन्मात्र है। इस ही प्रकार इस परमाणुद्रव्य को उसी सहजनिश्चयनय के द्वार से देखा जाये तो उसमें भी पारिणामिक भाव हैं। परमस्वभाव है, उस दृष्टि से देखें तो यह भी सन्मात्र है।

परमाणु का अभिन्न आदिमध्यान्तपना—यह परमाणु स्वयं ही खुद आदि है। खुद का अर्थ संस्कृत में आत्मा है। आत्मा का अर्थ चेतनपदार्थ भी है और आत्मा का अर्थ जिस पदार्थ से कहो वही पदार्थ है। जैसे बोलते हैं अजीव पदार्थ के विषय में कि यह चौकी अपने आप नहीं गिरी, अत: वहाँ अपने आपका अर्थ चौकी है, जीव नहीं है। चूंकि आप शब्द का प्रयोग अचेतन में भी हुआ करता है। आत्मा शब्द का प्रयोग सभी पदार्थों के लिये है, जिसका अपन खुद ही आदि है जिसका अपन खुद ही अन्त है और वही मध्य है। एक प्रदेशमात्र कोई वस्तु है, उसका आदि और अन्त अलग-अलग नहीं है। उस ही का स्वरूप आदि है, उसही की स्वतन्त्र परिणति मध्य है और उसही का स्वतन्त्र परिणाम अन्त है।

परमाणु की इन्द्रियगोचरता व अविभागिता—आदिमध्यान्तरहितता के कारण वह इन्द्रिय द्वारा गोचर नहीं है। वह न जल से डूब सकता है, न अग्नि से जल सकता है, यह स्कंध जल में गल जाय और अग्नि में जल जाय पर परमाणु नहीं जलता है और न भीगता है। वह तो एक प्रदेश मात्र अन्तर के व्याघात से रहित एक अविभागी अमूर्त द्रव्य हैं, उसे हे शिष्य ! तुम परमाणु समझो। परमाणु का लक्ष्य अनेक प्रकार से कहा गया है। उन सब लक्षणों से वह परमाणु में ही उपयोग वासित होता है। जो आकाश के एक प्रदेश से अधिक प्रदेश पर न रह सके उसे परमाणु कहते हैं, पर एक प्रदेश पर अनेक परमाणु ठहर सकते हैं मायने एक परमाणु अनेक प्रदेशों पर नहीं ठहर सकता।

स्वरूपच्युति का खेद—देखो भैया ! ये सब परमाणु अपने स्वरूप में कैसे निर्बाध हैं, त्रिकाल अपना स्वरूप नहीं छोड़ते, कितने भी स्कंधों में मिल जायें, एक बंधन को प्राप्त हो जायें तो भी कोई परमाणु अपने स्वरूप का परित्याग नहीं कर पाते हैं। तो ये परमाणु तो अपनी ईमानदारी में बने रहें और जानदार समझने वाला

तीनों लोक में सर्वश्रेष्ठ पदार्थ यह आत्मा अपने स्वरूप में नहीं ठहर सकता तो इसे कितना अज्ञान कहा जाय?

सिद्धात्मा व शुद्धाणु की श्रेष्ठता—सिद्ध भगवान तो ध्रुव रूप से अपने स्वरूप में ठहरे रहा करते हैं, परमाणु एक शुद्ध पदार्थ है और सिद्ध भगवान भी एक शुद्ध पदार्थ है। जैसा सिद्ध अपना अनन्त चमत्कार लिए हुए हैं इस ही प्रकार परमाणु भी अपना चमत्कार लिए हुए हैं। अपन हैं सिद्ध भगवान की जाति के इसलिए सिद्ध का गुणगान करते हैं। अगर कोई परमाणु और सिद्ध हममें से किसी बिरादरी का न हो, कोई तीसरा हो तो वह तुलना में दोनों को समान तौलेगा, पर है नहीं कोई तीसरा ऐसा जो तौल सके। तौल सके तो वह जीव आ गया तो जैसे सिद्ध भगवान चैतन्यात्मक निज स्वरूप में ठहरे रहा करते हैं इसी तरह शुद्ध परमाणु अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं।

कारणसमय व कार्यसमय की भांति कारणपरमाणु व कार्यपरमाणु में स्रोत व उद्गम—जैसे कारण समयसार का आश्रय करके समय नामक पदार्थ कार्य समयसाररूप होता है इस ही प्रकार कारणपरमाणु के आश्रय में ही परमाणु व्यक्तरूप अपना परिणमन किया करते हैं। जैसा आत्मा का समस्त परिणमनों का स्रोतभूत प्रयोजनभूत सहज शाश्वत चैतन्य प्रभु है जिसे पारिणामिक भाव कहते हैं इस ही प्रकार पुद्गल परमाणु के समस्त परिणमनों का स्रोतभूत उसका भी पारिणामिक भाव है, पारिणामिक भावणव है, उसका प्रयोजन परिणाम है। परिणाम अध्रुव है, उसका प्रयोजन पारिणामिक भाव है, यह समस्त विश्व अर्थात् छहों जाति के पदार्थ व्यक्तिगत रूप से अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य, ये प्रत्येक पदार्थ अनेक अन्य पदार्थों के साथ एकक्षेत्रावगाह होकर संकर बन रहे हैं, फिर भी अपना स्वरूप नहीं तजते।

सत् की स्वयं सुरक्षा—पदार्थ का स्वरूप है उत्पाद व्यय ध्रौव्य। प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगड़ता है फिर भी सदा बना रहता है। ये तीन बातें प्रत्येक पदार्थ में हैं। हम आप लोग किसलिए घबड़ाते हैं? अरे हम भी निरन्तर बनते हैं, बिगड़ते हैं और बने रहते हैं। यदि इन समागमों का लोभ करके उनके छूटने का ख्याल आने पर विषाद होता है तो अपनी बुद्धि को संभालें। आज यहाँ मनुष्य बने हैं तो पहिले कहीं और बने थे, अब आगे और बनेंगे। जहा जायेंगे वहीं पुद्गलों का कूड़ा तुरन्त मिल जायेगा। फिर इस ही एक विशिष्ट कूड़े से क्यों मोह है? आगे मिल जायेगा। जायेगा कहा? मिलेगा शरीर न्यारे-न्यारे ढंग का। पर आपको तो मोह की पड़ी है। सो इस प्रयोजन में बाधा न आयेगी। जो होगा उसमें ही मोह करके आज की चतुराई को निर्बाध बना सकेंगे और फिर दूसरी बात यह है कि अपना विनाश कहा है, सदा बने रहने वाले पदार्थ है। सब हैं सो अपन भी सदा बने रहने वाले हैं। बनना, बिगड़ना, बने रहना जब हमारा स्वरूप है तब फिर भय किस बात का? अपने स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान हो, यथार्थ ज्ञान हो और उसही में रमण करें तो फिर वह खेद की बात नहीं रहती है।

जैनसिद्धान्त में मुख्य दो प्ररूपणा—जैनसिद्धान्त आधाररूप स्वरूप और कर्तव्यरूप स्वरूप दो सूत्रों में बता दिया है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'—यह तो वस्तु का स्वरूप बताया है जिसका परिज्ञान करके हम अपने कर्तव्य में सफल हो सकेंगे। तथा कर्तव्य बताया है—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का सद्भाव एकत्व मोक्ष का मार्ग है। दो ही बातें प्रधान हैं जिनके विस्तार में फिर समस्त दर्शन आ जाता है। वस्तुस्वरूप और मोक्षमार्ग।

राष्ट्रीयध्वज में वस्तुस्वरूप का दर्शन—आज का जो राष्ट्रीय ध्वज है सबको मालूम है तिरंगा है—हरा, पीला और सफेद। और तिरंगा ही वस्तु स्वरूप है, तिरंगा ही मोक्षमार्ग है। वस्तुस्वरूप में उत्पाद व्यय ध्रौव्य बताया है। साहित्य में उत्पाद का वर्णन हरे रंग से किया जाता है। उत्पाद होना मायने हरा भरा होना। अभी कोई बुढ़िया से पूछे कि कहो बुढ़िया जी मजे में हो? तो वह बुढ़िया कहती है कि बहुत मजे में हैं, हम खूब हरी भरी हैं—नाती हैं, पोते हैं, खूब धन भरा है। तो उत्पन्न होने को लोग हरा कहते हैं। कहते हैं कि यह तो बहुत हरया रहा है। तो उत्पाद व्यय जो है वह हरे रंग से वर्णित होता है और व्यय का वर्णन होता है लाल रंग से। लाल, पीला, केसरिया ये सब एक जाति के ही रंग हैं कुछ तारतम्य के साथ। जहा विनाश का वर्णन आता है, वहाँ लाल रंग का वर्णन किया जाता है खून खच्चर हो गया, लाल ही लाल जमीन हो गयी बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। इस कारण सर्वसंहार हो गया। तो विलय का वर्णन लाल रंग से होता है जो ध्रुव है, स्थिर है, स्वच्छ है, शाश्वत है। तो तिरंगे में हरा रंग उत्पाद का सूचक है, लाल, पीला रंग व्यय का सूचक है और श्वेत रंग ध्रौव्य का सूचक हैं। और भी देखो कि इन रंगों में बीच में कौनसा रंग है, राष्ट्रीय पताका में सफेद है और नीचे ऊपर लाल और हरा है। सफेद रंग बीच में यह सूचना देता है कि जिस रंग पर हरा, लाल चढ़ता है वह सफेद पर ही चढ़ता है। उत्पाद व्यय जो हुआ करते हैं वे ध्रौव्य तत्त्व पर ही हुआ करते हैं। ध्रुव वस्तु न हो तो उत्पाद और व्यय कहा से हो?

वस्तुस्वरूप के बारे में चौबीस आरेका मर्म—और भी देख लो, 24 आरे का एक चक्र बना हुआ है जो यह सूचित करता है कि प्रत्येक वस्तु में षड्गुण, षड्भाग हानि व भागवृद्धि है तथा परिणमन दो क्षणों के पर्यायों से कहलाता है सो चढ़ाव उतार सब चौबीस है। सिद्धान्तवेत्ता जानते हैं, अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि, ये 6 वृद्धियां होती हैं और 6 हुई हानियां ये 12 हुई ना, और परिणमन एक समय के वर्तना का नाम नहीं है, केवल एक ही षड्भाग वृद्धि हानि हो जाना, इतने से परिणमन व्यक्त नहीं होता है किन्तु अगले क्षण में भी इसी प्रकार का परिणमन हो तब वहाँ परिणमन मिल जाता है। यों 24 आरे का चक्र वस्तु के प्रतिसमय की परिणमनशीलता को जाहिर कर रहा है। यह झंडा फहर कर यह बताता है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्।

राष्ट्रीय ध्वज में परमकर्तव्य का संकेत—इस प्रकार वस्तुज्ञान का परिचय करके आत्मा का श्रद्धान करना, ज्ञान करना और आचरण करना कर्तव्य है। आत्मश्रद्धान् आत्मरुचि को कहते हैं और रुचि का रंग साहित्य में पीला बताया गया है। सम्यक्चारित्र कहो, आचरण कहो, जिसमें आत्मा का विकास बढ़ता जाता है वह हरा रंग है। सम्यग्ज्ञान का श्वेत रंग है, वह स्वच्छ है। इस ज्ञान को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं, स्थिर ज्ञान को ही सम्यक्चारित्र कहते हैं। अत: ये दो रंग भी ज्ञान पर ही चढ़ते हैं। 24 आरे का चक्र यह बतला रहा है कि आज 24वें तीर्थंकर का यह तीर्थ है। यह ध्वज फहराकर बतलाता है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्ग:'। अब पुद्गल के सम्बन्ध में स्वभावगुण और विभावगुण का वर्णन करते हैं।

गाथा 27

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं।।27।।

पुद्गल के स्वभावगुण और विभावगुण—एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श होना, यह तो है स्वभावगुण और विभावगुण तो सर्व इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हो सके, ऐसा सर्वप्रकटपना है। पुद्गल में चार गुणों का होना अनिवार्य है—रूप, रस, गंध और स्पर्श। कोई भी पुद्गल इन चार गुणों से कम गुण वाला नहीं है। जहा इसमें से एक गुण वाला होता है, वहाँ चारों गुण होते हैं। ये गुण शक्तियां हैं, अनादि अनन्त स्वभावरूप हैं।

पुद्गलगुणों के परिणमनों का विवरण—अब पुद्गल के गुणों में प्रत्येक के भेद कहे जा रहे हैं। रस 5 प्रकार के परिणमन को प्राप्त होता है अर्थात् रसगुण के मूल 5 परिणमन होते हैं—तीखा, कडुवा, कषैला, खट्टा और मीठा। इन पांचों में सब रस आ गये। नमक, मिर्च—ये तीखे माने जाते हैं और करैला, गुरबेल, नीम—ये कटुस्वाद में आते हैं। कषैला जैसे आंवला होता है। खट्टापन नीम्बू, करौंदा जैसे फलों में होता है। शक्कर या अन्य मीठे फलों में मधुर रस होता है। जितने प्रकार के रस होते हैं, वे इन पांचों के तारतम्य और संयोग से होते हैं और शुद्ध भी होते हैं। पुद्गलपरमाणुओं में इन 5 रसों में से एक रस रहता है। कोई-सा भी रस हो। वर्ण 5 होते हैं—सफेद, पीला, नीला, लाल और काला। इन पाँच वर्णों में सभी वर्ण आ गये। जो वर्ण नाना प्रकार के दिखते हैं, वे तो 5 वर्णों में तारतम्य और मिलावट को लिए हुए हैं। जैसे नीला, सुवापंखी तथा गुलाबी आदि रंग हैं—ये सब किन्हीं रंगों के मेल से बने हैं। पुद्गलपरमाणुओं में इन 5 वर्णों में से कोई एक वर्ण होता है। गंधशक्ति के दो भेद हैं—सुगन्ध और दुर्गंध। पुद्गलपरमाणु में सुगन्ध या दुर्गंध में से कुछ एक होगा। स्पर्शशक्ति के 8 परिणमन हैं—रूखा, चिकना, ठण्डा, गर्म, कड़ा, नरम, हल्का व भारी। इनमें से चार तो आपेक्षित स्पर्श हैं और चार स्वतन्त्र परिणमन हैं। हल्का, भारी, कड़ा, नरम—ये स्कंध में ही होते हैं। ठण्डा, गरम, रूखा, चिकना—ये स्पर्शगुण के स्वतन्त्र परिणमन हैं। पुद्गलपरमाणुवों में इन स्वतन्त्र परिणमनों में से कोई से दो स्पर्श होते हैं।

एक गुण के दो परिणमन के विरोध में जिज्ञासा व समाधान—यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि एक गुण के दो पर्याय किसी पदार्थ में नहीं हुआ करते, किन्तु यहाँ एक परमाणु में दो स्पर्श बताये जा रहे हैं। तब क्या इस नियम का उल्लङ्घन है कि एक पदार्थ में एक शक्ति के दो परिणमन एक समय में नहीं होते? समाधान यह है कि नियम का उल्लङ्घन कहीं नहीं है। वहाँ भी वास्तव में दो शक्तियां हैं, दो गुण हैं। एक गुण के तो स्निग्ध और रूक्षत्व जैसा कुछ परिणमन होता है और एक गुण का ठंडा या गरम में से एक परिणमन होता है। उन गुणों का नाम क्या है? अत: अप्रयोजनीभूत होने से उनका नाम नहीं मिलता है, किंतु वे सब परिणमन स्पर्शन द्वारा ग्राह्य हैं, इस प्रयोजन को लेकर सामान्यरूप से एक स्पर्शगुण के परिणमन बता दिये जाते हैं। जैसे जीव में एक चैतन्यस्वभाव है, उस चैतन्यगुण के दो परिणमन हैं—जानना और देखना। तब क्या

यहाँ भी इस नियम का उल्लङ्घन किया जा रहा है कि एक पदार्थ में एक शक्ति के एक समय में दो परिणमन नहीं होते हैं? समाधान यह है कि नियम का उल्लङ्घन नहीं है। जीव में वैसे दो शक्तियां है—एक ज्ञानशक्ति और दूसरी दर्शनशक्ति। किन्तु उन दोनों शक्तियों का कार्य प्रतिभासस्वरूप है, इस नाते से एक चैतन्यस्वभाव से कह दिया जाता है।

परमाणुओं के प्रकार—परमाणु में एक समय में दो स्पर्श होते हैं। इस प्रकार दो स्पर्श होना, एक रस, एक रूप, एक गंध होना, इसे कहते हैं पुद्गल का स्वभावगुण प्रवर्तना। एक कोई परमाणु किसी रूप को लिए हुए है, कोई परमाणु किसी रूप को लिए हुए है। इन पांचों में से कोई रूप हुआ, किसी का कुछ है, किसी का कुछ है। 5 रसों में से कोई रस हो और चार स्पर्शों में से कोई दो स्पर्श हों, दो गंधों में कोई गंध हो। कुल परमाणु हमें कितनी तरह के मिलेंगे? इस गुणपरिणमन की दृष्टि में वहाँ मेल का कोई सवाल नहीं है। अत: 5 रसों में 5 रूपों का गुणा किया तो 5×5=25 और उसमें दो गंधों का गुणा किया तो 25×2=50 और उसमें चार स्पर्शों का गुणा किया तो 50×4=200। अत: अनन्तपरमाणु 200 प्रकार के पाये जाते हैं।

विभावपुद्गलों में विभावगुण—यह तो जैनसिद्धान्त में परमाणु का स्वभावगुण बताया है और विभावगुण विभावपुद्गल में होता है अर्थात् स्कंधों में विभावगुण होता है। उस विभावगुण के होने में स्पष्ट रूप से यह जान लीजिए कि वहाँ 8 स्पर्शों में से कोई से चार स्पर्श होते हैं। जब तक परमाणुओं का मेल न बने तब तक उनमें कड़ा और नरम का भेद नहीं आ सकता है। एक परमाणु का क्या कड़ा होना अथवा क्या नरम होना, इस प्रकार हल्का भारी यह भेद भी एक परमाणु में नहीं होता है। तो ये विभाव स्पर्श विभावपुद्गलों में पाये जाते हैं। विभावपुद्गल का अर्थ है कि कई परमाणुओं का पुञ्जरूप स्कंध। कम से कम स्कंध दो अणुवों का पिण्ड होता है और फिर बढ़ते-बढ़ते अनन्त परमाणुओं का स्कंध होता है। सुई की नोक पर ही जितना टुकड़ा खड़ा हो सकता है कागज का या मिट्टी का उस कण में अनन्त परमाणु हैं। अनन्त परमाणुओं के पिण्ड स्वरूप भी कई ऐसे हैं जो आँख से देखने में स्कंध नहीं आ सकते। इन स्कंधों में विभावगुण होते हैं।

विभावगुणों की इन्द्रियग्राह्यता—ये विभावगुण इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं। स्पर्श ने स्पर्श जान लिया, रसना ने रस पहचान लिया, घ्राण ने गंध समझ लिया, नेत्र से रूप परख लिया और कर्णेन्द्रिय से शब्द का परिज्ञान कर लिया। समस्त इन्द्रियों द्वारा ये पुद्गल स्कंध ग्राह्य होते हैं। शब्द गुण नहीं है, न गुण का परिणमन है किन्तु वह एकद्रव्य व्यञ्जन पर्याय है। पर वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होती है। कर्ण द्वारा, इसी कारण उसे कह दिया है।

शुद्धात्मा की भांति शुद्धाणु में एकत्व परिणमन— एक परमाणु की गुणात्मकता के इस प्रकरण में यह जान लीजिए कि जैसे शुद्ध जीव अपने परिपूर्ण स्वतंत्रतया समर्थ एक-एक गुण के कार्य में निरन्तर रत रहता है, ऐसे ही ये परमाणु मेल से रहित अपने स्वतंत्र एक-एक गुण परिणमन से वे परिणमते रहते हैं। वे परमाणु के एक वर्ण रस आदिक होते हैं और उनसे वे विकासमान हैं—रहो, उनमें मेरी कौनसी सिद्धि है? मेरी सिद्धि तो मेरे ही चित्त में एक शुद्ध आत्मतत्त्व बसे तो है। वह परमाणु में है अर्थात् गुणों के पुञ्ज में है। परपदार्थ हैं, उनके कुछ भी शुद्ध परिणमन से मेरे आत्मा में कोई सिद्धि नहीं है। इस कारण जो परआनन्द का अर्थी है ऐसा ज्ञानी संत एक निज आत्मतत्त्व की भावना करता है।

निर्विकल्प समाधि—आत्मा का हित निर्विकल्प समाधिभाव में है। निर्विकल्प समाधि वहाँ प्रकट होती है जहा जाननहार और जाना जाने वाला यह एक रस हो जाता है। विकल्प उत्पन्न होने का अवकाश वहाँ नहीं मिलता है जहा ज्ञान और ज्ञेय एक होता है। ज्ञान और ज्ञेय भिन्न हुए तो वहाँ विकल्प आ ही पड़ेंगे। ज्ञान और ज्ञेय भिन्न कब हो जाते हैं? जब जानने वाला तो यह आत्मा है और जानने में आये हुए हैं परपदार्थ, तो पर और आत्मा ये एक रस कहां हो सकते हैं? ये तो अत्यन्त जुदा हैं। वहाँ विकल्प ही आयेंगे और कदाचित् इस आत्मा को भी जानने में लगें इसमें अनन्तगुण हैं, ऐसा परिणमन है। सब चमत्कारों का ज्ञान करने में लगें, क्या उस स्थिति में भी हम निर्विकल्प समाधि पा सकते हैं? खुद को जानकर भी यह खुद पर बना हुआ हो तो वहाँ भी समाधि नहीं पा सकते हैं। जब जाननहार ज्ञान में जाननहार ज्ञान के स्वरूप को ही जाना तब वहाँ एक रस बनता है और निर्विकल्प समाधि प्रकट होती है।

निर्विकल्पसमाधि की पात्रता—भैया ! ज्ञान, ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भावों को जाने तो वहाँ भी ज्ञान ज्ञेय का भेद पड़ जाता है। तो जहा अपने आपके गुणों के, पर्यायों के नाना प्रकार के परिज्ञान से भी निर्विकल्प समाधि के अर्थ उस काल में सिद्धि नहीं होती तो परपदार्थों का ज्ञान करते रहने से, उनमें उपयोग दिए रहने से हमारी सिद्धि कहां से होगी? हैं ये सब जान लिया, हाँ इन्हें भी केवल जानकर छोड़ा तो पात्रता ऐसी जरूर है कि निर्विकल्प समाधि होगी। जो जानने के साथ राग और द्वेष से भी लिप्त हो जाता है उसके निर्विकल्प समाधि अथवा आनन्द प्रकट नहीं होता है। आत्मा की उत्कृष्ट सरलता यही है कि ज्ञान और ज्ञेय में भेद न हो जाने पाय।

स्कन्धों के परिज्ञान की अपेक्षा परमाणु के परिज्ञान का अच्छा असर—इन्द्रिय द्वारा व्यक्त और अपने रागद्वेष संस्कारों के कारण शीघ्र समझ में आने वाले इन स्कंधों के परिज्ञान की अपेक्षा परमाणु विषयक परिज्ञान करने में कुछ भलाई तो है, पर ज्ञान ज्ञेय की एकरसता वहां नहीं हो पाती है। भलाई यों है कि परमाणु को जानकर जरा परमाणु में रागद्वेष तो करो, आप क्या करोगे रागद्वेष? और स्कंधों को जानकर स्कंधों में रागद्वेष बना सकते हैं। फिर यों समझिये कि जैसे किसी को हिचकी बहुत आती हो और उसे कोई चालाक बालक चतुर बालक कुछ घबड़ाहट के ढंग से उसको यह कहे कि तुमने आज बड़ा गजब कर डाला, उसकी चोरी क्यों की या और बात लगा दे जिससे वह कुछ अचम्भे में पड़ जाय, तो इस अचम्भे की स्थिति में उसकी हिचकी रुक जाती है। लोग ऐसा करते भी हैं। तो जो कहीं कुछ समझ में आ रही है बात उनकी समझ में हिचकी नहीं रुकती और कोई कठिन ऊदबिलाव जैसी बातें मार दें अर्थात् एक विलक्षणता के बोध की दृष्टि करा दें तो उसकी हिचकी रुक जाती है। तो परमाणु का परिज्ञान भी ऐसा विलक्षण बोध है कि परमाणु के वर्णन में चाहे एक रसपना एक वर्णपना एक गंधपना दो स्पर्शपना के जानने में लगे और एक प्रदेशमात्र है, अविभागी है आदि बातों के जानने में लगे, किन्तु दद्दा नानी की खबर तो रहेगी नहीं, और ऐसे ही धन वैभव की खबर न रहेगी। तो इसमें कुछ नफा सा मिला कि नहीं? रागद्वेष के प्रवाह से तो अलग हो गए, किन्तु यहाँ तो यह समझता है कि ऐसे ही विलक्षण स्वरूप वाले परमाणु के बोध में भी हम विकल्प करें तो जानने वाला तो और है और जानने में आया कुछ और है इस कारण वहाँ एक रसपना नहीं हो सकता है।

परपरिज्ञान के निरोध की आवश्यकता—भैया ! उक्त प्रकार से जब तक भी बुद्धि परपदार्थों को जानकर इष्ट अनिष्ट भाव लाती है अर्थात् व्यभिचारिणी है तब तक इसको पर-घर जाने से मना करो। और जब हमारी आपकी बुद्धि इतनी समर्थ हो जाय कि ये परपदार्थ भी जानने में आए तो भी यह बुद्धि व्यभिचारिणी न होगी अर्थात् रागद्वेष को उत्पन्न करने वाली न होगी, जैसे कि ज्ञानीसंत पुरुषों के ऊँचे गुणस्थान वालों में सामर्थ्य होती है ऐसी सामर्थ्य हो जाय तो वहाँ फिर हटने और लगने का कोई उपदेश नहीं है, जो चाहे ज्ञान में आए। जैसे नई बहूओं को पर-घर जाने का सभी निषेध करते हैं और बड़ी बूढ़ी होने पर उन्हें कौन निषेध करता है, इसी प्रकार जब तक बुद्धि परपदार्थों में इष्ट अनिष्ट की कल्पना करने के लिए बनी हुई है तब तक आचार्य महाराज मना करते हैं कि पर को छोड़कर अपने आपको जानो, पर-घर न जावो। अपने ही घर में बुद्धि को लावो और जब इस ज्ञानाभ्यास के द्वारा उदासीनता प्रकट हो जायेगी तब का यह वर्णन है कि चाहे परमाणु ज्ञान में आये चाहे कुछ ज्ञान में आए, पृथक्त्ववितर्क विचार व एकत्ववितर्क अविचार ध्यान में कुछ आता रहे उससे आत्मविकास में कोई बाधा नहीं आती है। पर इस समय हम आप ऐसी स्थिति में है कि पर-घर जाने से अपनी बुद्धि को रोकना चाहिए और अपने ही घर में अपनी बुद्धि को लाना चाहिए। इस प्रकार स्वभावज्ञान और विभाव ज्ञान के प्रकरण में यहाँ गुणदृष्टि से परमाणु और स्कंध के परिणमनों का वर्णन किया गया है।

अब पुद्गल पर्याय का स्वरूप बतला रहे हैं।

गाथा 28

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ।।28।।

पुद्गल का निरपेक्ष परिणमन—परमाणुरूप पर्याय पुद्गल की शुद्ध पर्याय है और वह परम पारिणामिक भावस्वरूप है। जैसे सभी पदार्थों में वस्तुगत षट् प्रकार की हानि गुणवृद्धिरूप परिणमन होता है जो कि अत्यन्त सूक्ष्म है और अर्थ पर्यायरूप है ऐसा अर्थपरिणमन इस पुद्गल के भी होता है। यह परिणमन पुद्गल में द्रव्यत्व गुण के कारण स्वयमेव हो रहा है कि किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से नहीं परिणमता। यह वस्तु का स्वभाव है वस्तु है तो निरन्तर परिणमता रहता है ऐसा कोई पदार्थ नहीं होता जो है तो जरूर किन्तु परिणमे नहीं। परिणमन बिना है कि सिद्ध नहीं होती है और है के बिना परिणमन की सिद्धि नहीं है। परद्रव्य की अपेक्षा न रखकर जो परिणमन होता है वह स्वभाव पर्याय है।

स्वभावपरिणमन—स्वभाव पर्याय यद्यपि आदि अंतकर सहित है और ऐसा ही आदि अंत करि सहित निरन्तर उसमें परिणमन होता रहता है फिर भी स्वभावपर्याय परद्रव्य की अपेक्षा न करके होता है, अत: वह शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयात्मक पर्याय है अथवा एक समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक होने से सूक्ष्म परिणमन जो निरन्तर चलता रहता है वह इसकी शुद्धपर्याय है। जैसे आत्मा के साथ अन्य द्रव्य का सम्बन्ध नहीं होता, उपाधि का संयोग नहीं होता तो वह आत्मा अपने स्वभाव के अनुकूल समपरिणमन कर रहा है। इस ही

प्रकार परमाणु जब अन्य परमाणु का सम्बन्ध नहीं पाता अथवा जीव का भी संयोग नहीं पाता तो वह परमाणु अगुरुलघुत्व गुणकृत षड्गुण वृद्धिरूप से हानिरूप से निरन्तर परिणमता रहता है।

व्यञ्जन पर्याय—दिखने वाले स्कंधों में कल्पना से टुकड़े कर-करके ऐसा आखिरी टुकड़ा ध्यान में लावो कि जिसका दूसरा अंश हो ही न सके ऐसा ज्ञान में आया हुआ निरंश अणु देखो और उसमें परिणमन विचारो तो वह परिणमन एक न की तरह ज्ञात होगा। जैसे अशुद्ध आत्मा के परिणमन व्यक्त विदित होते हैं किन्तु शुद्ध आत्मा का परिणमन व्यक्त विदित नहीं होता, इसी कारण यावन्मात्र अशुद्ध परिणमन हैं ये चाहे अशुद्ध गुणपर्याय हों अथवा द्रव्यपर्याय हों उन सबको व्यञ्जन पर्याय कहा गया है।

परमाणु में एकत्व परिणमन—तो जैसे सभी द्रव्यों में जो कि शुद्ध हैं उनमें द्रव्यत्व गुण के कारण परिणमन चलता रहता है, इसी तरह शुद्ध परमाणु में भी रूप, रस, गंध, स्पर्श का स्वतंत्र एकरूप परिणमन चला करता है अर्थात् जैसे स्कंधों में कई रंगों के मेल का रंग भी दिखता है, जैसे-जैसे नीला, सुवापंखी, गुलाबी—ये सब रंग जो कि स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु रंगों के मेल से बने हुए हैं, परमाणु में रंगों के मेल का बना हुआ यह सब रंग नहीं हुआ करता है क्योंकि वहाँ मेल कहां से आया? एक परमाणु एक रंग रूप है, दूसरा परमाणु भी एक रंग रूप है। यदि दो छोटे स्कंध जो विभिन्न रंग के हों और मिलकर पिण्ड बन जायें तो ऐसे स्कंध में तो सम्भावना की जा सकती है अर्थात् एक परमाणु में अपना ही शुद्ध एक रूप होता है। इसी तरह रस आदि गुणों के परिणमनों की भी बात शुद्ध पायी जाती है।

जीव द्रव्य को ही उपदेशे जाने का कारण—6 जाति के द्रव्य होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इनमें से जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य विभावरूप परिणम सकते हैं। शेष द्रव्य तो शाश्वत शुद्ध रहा करते हैं, इसलिए अन्य द्रव्यों को शुद्ध होने का उपदेश नहीं है। इन दो द्रव्यों में से पुद्गल को भी शुद्ध होने का उपदेश नहीं है। पुद्गल शुद्ध हो जाए तो क्या, अशुद्ध रहे तो क्या? किसी भी अवस्था से पुद्गल में बिगाड़ नहीं है। यदि एक चौकी को काट छेद करके बिगाड़ दिया तो हम आप लोग अपनी कल्पना से मानते हैं कि चौकी बिगड़ गयी। पर वहाँ क्या बिगड़ा? चौकी तो जड़ पदार्थ है। प्रत्येक परमाणु अपने आपमें अपना परिपूर्ण अस्तित्व लिए है। क्या बिगड़ा? यहाँ पर तो पुद्गल का कुछ बिगाड़ नहीं है। किसी भी रूप परिणमे, उनमें खेद नहीं होता है। एक जीवद्रव्य ही ऐसा है कि विकृतावस्था में यह आकुलित रहता है और जन्म-मरण की परम्पराओं में क्लेश पाता रहता है। उसे उपदेश है कि अय जीव, अपने सहजस्वरूप की संभाल तो कर, तभी ये कर्मबंधन, नोकर्मसंयोग, विभावों के संकट समाप्त होंगे।

वीतराग विज्ञानस्वरूप—छहढाला हिन्दी भाषा की एक बहुत ऊँची पुस्तक है, जिसमें सब उपयोगी बातें दी गयी हैं। मंगलाचरण में यह बताया है कि तीन लोक में सार जो वीतरागविज्ञान है; वह शिवस्वरूप है, कल्याणमय है और आनन्द का देने वाला है; उसे तीन योग संभालकर मैं नमस्कार करता हू। कितने संक्षिप्त शब्द हैं और बड़े अर्थ मर्म से भरे हुए हैं। तीन लोक में सार क्या है? रागद्वेष रहित ज्ञानस्वभाव। यह ज्ञायकभाव स्वरसत: रागद्वेषादि विकारों से रहित है। यह वीतरागविज्ञान सब जीवों में पाया जाता है। हममें आपमें सबमें जो इसे नहीं जानते, वे दीन भिखारी से बने रहते हैं और परपदार्थ की आशा किया करते हैं, पर को अपना, अपने को पर का मालिक मानकर दु:खी हुआ करते हैं।

लोक की सर्वस्थितियों में क्लेश—भैया ! लोक में हुक्म मानने का ही दु:ख है? अरे, जितना दु:ख हुक्म मानने वाले को होता है, उससे भी कहीं अधिक दु:ख हुक्म देने वाले को है। जितने क्लेश दूसरे के समक्ष छोटा बनने से रहता है, उससे अधिक दु:ख दूसरे के समक्ष बड़ा बनकर रहने में होता है। लोग कह भी देते हैं कि उदय जिसका खराब हो तो बड़ा भाई या और कुछ बड़ा बनता है। अत: इस लोक में किस चीज में सुख मान लिया जाए? यदि किसी के पुत्र न हो तो मैं पुत्ररहित हू, मेरे कुल को चलाने वाला कोई नहीं है, यों सोचकर दु:खी रहता है। जिसके पुत्र हों, वह भी तो दु:खी रहता है; नहीं तो बार-बार लड़कों को क्यों मारता, क्यों दाँत किटकिटाता? यदि पुत्र कुपूत हो गया तो उसका क्लेश होगा, व्यसनी हो गया, कुमार्गी भी हो गया, लड़ने-भिड़ने वाला हो गया, इस प्रकार के बड़े दु:ख हैं। यदि कोई पुत्र सपूत बन जाए तो उस कुपूत से भी ज्यादा दु:खदायी हो जाता है, क्योंकि यदि कुपूत लड़के से बाप का मन नहीं मिलता तो एक बार स्पष्ट कर दिया कि यह मेरा कोई नहीं है या अखबारों में छपा दिया कि अब मैं इसका जिम्मेदार नहीं; अगर पुत्र सपूत है तो यह ध्यान बना रहेगा कि मैं इसे समर्थ बना दूं, सुखी बना दूं, बड़ा आज्ञाकारी है, बड़ा विनयशील है; अत: उसको सुखी करने के लिए रात-दिन परिश्रम करना पड़ता है।

सर्वस्थितियों के क्लेश का कारण स्वयं का अज्ञानभाव—भैया ! सभी बातों को ऐसा ही लगा लो, हो तो दु:ख और न हो तो दु:ख। प्रयोजन यह है कि जब स्वयं में कोई ऐब है, वासना अज्ञान की बनी हुई है, तो दु:ख देने वाली तो अज्ञान वासना है, उसके कारण दु:खी रहा करता है। अत: लोक में कहीं आनन्द नहीं है। शांति का स्रोत है आनन्द का उपाय। एक वीतराग ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करना, यही आनन्द का उपाय है। खूब खोज लो कि जो सुखाभास होता है, उसमें भी पीछे पछतावा आता है, पर लोग सुख भोगने के काल में पछतावा महसूस नहीं करते। अत: तीनों लोकों में देवगति हो या नीचे का पाताल लोक हो अथवा मध्यलोक हो; उसमें रहने वाले जितने जीव, उनके भोगसाधन, वैभव, इज्जत आदि समस्त बातों पर निगाह डाल लो। सुखदायी कुछ नहीं है, सारभूत कुछ नहीं है, यह मर्म की बात, धर्म की बात थोड़ासा बुद्धि का प्रयोग करें तो अनुभव में उतर सकती है।

धर्म, अधर्म के फल की प्रयोगसिद्धता—पर को असार जानकर, विकल्प छोड़कर निर्विकल्पभाव से क्षणभर ठहर जाए तो अनुभूत हो जाएगा कि आत्मा का स्वरूप अनादि, अनन्त है। जैसे कोई चीज बनाते हैं तो प्रयोग करते हुए देखते हुए देखते जाते हैं। जैसे चाकू की धार लगाते हैं तो बीच-बीच में थोड़ी अंगुली फेर कर देखते जाते हैं और वहाँ ज्ञान होता जाता है कि अभी धार में थोड़ी कमी रह गयी, अब ठीक हो गयी अथवा रोटी सेंकते जाते हैं और देखते जाते हैं कि इस तरफ की सिक गयी, उस तरफ की सिक गयी, अब फूल गयी, अभी इतनी कसर रह गयी, घुमाते जाते हैं, प्रयोग करते जाते हैं और समझते जाते हैं। इसी प्रकार धर्म और अधर्म की बात प्रयोग करते जावो और समझते जावो, कोई कठिन बात नहीं है। विकल्पभाव दूर करो और धर्म का प्रयोग करके समझ लो कि सार और शांति यहाँ ही है या नहीं। अधर्म की बात का प्रयोग तो किए ही हुए हैं अनादि से और समझ रहे हैं। तीन लोक में सार रागद्वेष रहित, विकाररहित जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव है, वह स्वयं कल्याणरूप है और आनन्द को देने वाला है। अत: तीनों योग संभाल करके उस वीतरागविज्ञान को नमस्कार हो।

पुद्गल में स्वभावपरिणमन व विभावपरिणमन—शुद्ध ज्ञायकस्वभावमय आत्मा को उस द्रव्य में ही केवल अकेले में देखा जाए तो उसका परिणमन ऐसा रमा रहता है कि प्रतिक्षण परिणमन होता हुआ भी परिवर्तन समझ में नहीं आता। इस परमाणु में भी परमाणुद्रव्यत्व के कारण उसमें प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। पतिक्षण परिणमन होता हुआ भी परिणमन में परिवर्तन नहीं हो पाता। वह ऐसे ही एकत्व को लिए हुए है। यह उसका स्वभावपर्याय है और पुद्गल का विभावपर्याय है। स्कंधरूप से परिणमन हो जाना पुद्गल का स्वजातीय बंधन है। परमाणु परमाणु मिलकर स्कंध बनता है, इसे सजातीय द्रव्यपर्याय कहते हैं। यह है पुद्गलद्रव्य की विभावपर्याय, अकेला अणु रह गया वह तो है स्वभावपर्याय और अनेक अणु मिलकर स्कंध बन गए तो यह है विभावपर्याय।

परमाणु में शब्दरहितता—इन परमाणुओं में, शुद्ध पुद्गलद्रव्य में जो कि परपरिणति से दूर हैं, शुद्ध पर्यायरूप हैं, शब्द नहीं होते हैं। जैसे कि परपरिणति से परे शुद्ध पर्यायात्मक परमात्मपदार्थ में कामादिक विकार नहीं होते हैं। शब्द एक विकारपर्याय है। अत: शब्दपर्याय भी शुद्ध पर्याय में नहीं होती। भाषावर्गणा जाति के स्कंध पड़े हुए हैं जगत् में, सर्वत्र पड़े हैं। बोलते हैं तो तुरन्त इतने शब्दों का विस्तार बन जाता है। भाषावर्गणा के उपादान में परिणत ये सब शब्द पुद्गलद्रव्य हैं। पुद्गल को संदूक में बंद कर सकते हैं, पुद्गल को उठाकर बहुत दूर तक फेंक सकते हैं। ऐसे ही ये शब्द भी पुद्गल हैं। उन शब्दों को अपन रोक सकते हैं, टेप में तो थाम लेते हैं, रिकार्ड में भी थाम लेते हैं और शब्द छिड़ जायें। भींत बीच में हो या किवाड़ बंद हों, बाहर से कोई चिल्लाए तो शब्द सुनने में नहीं आते। ये शब्द पुद्गलद्रव्य हैं, विकारीपर्याय हैं। ये शब्द पर्याय शुद्ध पर्यायरूप परमाणु में नहीं है, क्योंकि परमाणु स्वतंत्र अपने एकत्व को लिए हुआ पदार्थ है, वह परपरिणति से दूर है। स्कंधों में से स्वतन्त्रपरमाणु का जो कार्य है, वह नहीं हो सकता। वहाँ परपरिणति का रंग सर्वपरमाणुवों पर पड़ा है, स्कंधावस्था में पड़ा है। केवल एक जो शुद्ध परमाणु है, उस परमाणु में परपरिणति का रंग नहीं होता, इस कारण उसमें स्कंधपर्याय जो शब्दनामक है, वह नहीं हुआ करता है।

शुद्ध पदार्थों के कैवल्य की समानता—भैया ! अपन चेतन हैं इस कारण चैतन्य शुद्ध चैतन्यतत्त्व की महिमा अधिक गाते हैं, पर जितने भी शुद्ध द्रव्य हैं उन सबमें शुद्धता की महिमा पायी जाती है। इस प्रकार निष्पक्ष दृष्टि से देखें तो जैसे परमाणु शुद्ध विलसित होता है इसी प्रकार सिद्ध जीव भी शुद्ध विलसित है। आकाशद्रव्य निरन्तर शुद्ध रहता है, जिसमें समस्त विश्व के पर्याय भी लोट रहे हैं, फिर भी आकाश में विकार नहीं होता। ऐसे ही शुद्ध आत्मा के स्थान पर अनेक विश्व के पदार्थ लोट रहे हैं, फिर भी उनमें विकार नहीं होता। और जब तक पुद्गल शुद्ध पुद्गल है वहाँ भी समस्त पदार्थ लोट रहे हैं फिर भी तो पुद्गल में विकार नहीं होता है।

जीव व पुद्गल की शुद्धता में भविष्यत्का अन्तर—आत्मा की शुद्धता और पुद्गल की शुद्धता में यह अन्तर है कि आत्मा तो शुद्ध होकर फिर कभी अशुद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि आत्मा के अशुद्ध होने का कारण है रागद्वेष विभाव। रागद्वेष विभाव मूलत: एक बार नष्ट होने पर फिर उसका कार्यरूप कर्म नहीं आते और जब कर्म नहीं रहते तो कोई कार्यरूप रागद्वेष की सम्भावना नहीं रहती, किन्तु पुद्गल परमाणुओं में परस्पर का जो द्रव्यबंधन है वह परमाणु के स्निग्ध रूक्षत्व गुण के कारण हैं। स्निग्ध रूक्षत्व गुण परमाणु में शाश्वत रहता

है और उनका अविभागप्रतिच्छेद भी स्वयं कर्मवश हो रहा है परिणमनशीलता के कारण। तो जब बंधन की योग्यता होती है व दो गुण अधिक उनका योग मिलता है तो भी परमाणु आपस में बंधन को प्राप्त हो जाता है तब यह अशुद्ध कहलाने लगता है, पर जब तक परमाणु शुद्ध है तब तक उसके परपरिणति नहीं है, शब्द भी नहीं है। ऐसे पुद्गल द्रव्य पर्यायों के प्रकरण में यहाँ स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय रूप से दो प्रकार की पर्यायें बतायी गयी हैं।

गाथा 29

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वोत्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स।।29।।

परमाणु में पुद्गलद्रव्यपना—इस अधिकार में पुद्गल द्रव्य का व्याख्यान चला आ रहा है, उस ही प्रकरण में यह अंतिम गाथा है। पुद्गलद्रव्य वास्तव में अर्थात् निश्चय नय से परमाणुओं को ही कहा जाता है, फिर व्यवहार से स्कंध में भी यह पुद्गल द्रव्य है ऐसा व्यपदेश किया जाता है। स्कंध द्रव्य नहीं है किन्तु पर्याय है और वह है समानजातीय द्रव्य पर्याय। जो स्वभावपर्यायात्मक है, शुद्धपर्यायवान् है ऐसे परमाणु में ही शुद्धनय से पुद्गल द्रव्य का व्यपदेश किया जाता है। और व्यवहारनय से विभावपर्यायात्मक स्कंध पुद्गल का पुद्गलपना उपचार से सिद्ध किया गया है। वैसे सबकी समझ में ये पुद्गल स्कंध ही पूरी तौर से पदार्थ जंच रहे हैं और परमाणु की तो खबर ही नहीं है। परमाणु का वर्णन आए तो ऐसा लगता है कि ऐसा कहने की विधि है, किन्तु परमार्थ से परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है।

पुद्गलद्रव्य में अस्तिकायत्व की औपचारिकता—जहा अस्तिकाय के भेद कहे गए है वहाँ अस्तिकाय 5 बताये गए—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। इसमें जीव तो सभी अस्तिकाय हैं, असंख्यातप्रदेशी हैं। जिसके प्रदेश अनेक हों उसे अस्तिकाय कहते हैं। धर्म, अधर्म और आकाश भी एक-एक द्रव्य हैं और बराबर अस्तिकाय हैं, किन्तु पुद्गल द्रव्य में परमार्थ द्रव्य तो परमाणु है, वह है एकप्रदेशी। एकप्रदेशी को अस्तिकाय नहीं कहा जाता है और स्कंध वास्तव में द्रव्य नहीं है। इस कारण पुद्गल परमार्थ से ऐसे एक बंधन रूप स्कंध हो जाते हैं कि फिर उसकी ढाल चाल सब न्यारी हो जाती है। क्या परमाणु चलाया जा सकता है? नहीं किन्तु परमाणु का पुञ्ज स्कंध बन जाय तो स्कंध जलता भी है, गलता भी है, उठाया भी जाता है। जो बातें परमाणु में नहीं ली जा सकती हैं वे सब बातें स्कंध में स्पष्ट दिखती हैं। इस कारण पुद्गल द्रव्य को उपचार से अस्तिकाय कहते हैं।

पुद्गलशब्द का व्युत्पत्त्यर्थ और अन्वर्थत्व—पुद्गल का अर्थ है जो पूरे और गले, मिले और बिछुड़े। मिलना, बिछुड़ना अन्य द्रव्य में सम्भव नहीं है। जैसे पुद्गल परमाणु बहुत से मिलकर स्कंध बन जाते हैं ऐसे ही क्या कभी दो जीव मिलकर एक जीव हुए? बहुत ही घनिष्ट प्रीति हो पर वस्तुस्वरूप का उल्लंघन कैसे किया जा सकता है? दो जीव मिलकर एक कभी नहीं हो सकते हैं। मोही जीव चाहता है कि हम और ये दो न्यारे-न्यारे क्यों रहें, मिलकर एक पिण्ड बन जाए, पर क्या दो जीव कभी एक बन सकते हैं? नहीं बन सकते। केवल

पुद्गल ही ऐसे हैं जो बन्धनबद्ध होकर स्कन्ध होते हैं। सत्व की दृष्टि से तो वे भी एक नहीं बनते किन्तु ऐसा विशिष्ट बंधन हो जाता है कि वह एक हो जाता है और व्यवहार में भी देख लो कई चीजें हैं तो सबका एक व्यवहार होता है, ऐसे पुद्गल को उपचार से अस्तिकाय कहा है। उसका यह कारण है कि निश्चय से तो परमाणु पुद्गलद्रव्य है और व्यवहार से स्कंध को भी पुद्गल द्रव्य का व्यपदेश किया जाता है।

पुद्गलद्रव्य के विवरण का प्रयोजन—इस अजीवाधिकार के प्रकरण में पुद्गल द्रव्य को न संक्षेप से, न विस्तार से किन्तु मध्यम पद्धति से आचार्य से आचार्यदेव ने वर्णन किया है। पुद्गल का भी रंग ढंग जानना कल्याणार्थी जीवों को आवश्यक है और वह इस रूप में आवश्यक है कि हमें जिससे निवृत्त होना है, हटना है उसका भी परिज्ञान चाहिए। सो समस्त तत्त्वार्थ समूह को जानकर कर्तव्य यह हो जाता है कि समस्त परद्रव्यों को चाहे वे चेतन हों अथवा अचेतन हों उनको छोड़ना चाहिए, और परमतत्त्व जो चैतन्य चमत्कार मात्र है, समस्त परद्रव्यों से विविक्त है उसे निर्विकल्प समाधि में रहकर धारण करना चाहिए। जिनदेव के शासन में यह बात प्रमुख बतायी गयी है कि देखो भाई जीव अन्य हैं, पुद्गल अन्य हैं, इन समस्त पुद्गलों से उपयोग हटाकर जिस शरीर के बन्धन में बँध रहा है उस शरीर को भी न सोचें और केवल ज्ञानज्योति का चिंतन करें तो क्या ऐसा किया नहीं जा सकता है?

शुद्धोपयोगी के शुद्धात्मत्व—भैया ! इस ज्ञानमय तत्त्व में बड़ी विलक्षण कला है, बन्धन की अवस्था में भी यह उपयोग बंधन को नहीं समझ रहा है, बंधन में नहीं पड़ रहा है किन्तु शुद्ध आत्मा का जो ज्ञायकस्वरूप है, अपने ही सत्त्व के कारण जो सहजस्वभाव है उस स्वभाव को ही जान रहा है तो ऐसे उपयोग में रहने वाले आत्मा को शुद्ध बताया जाता है। वह शुद्ध आत्मा है। जैसे कोई साधु महाराज मिर्च ज्यादा खाते हैं तो उनका नाम कोई मिर्च महाराज रख ले, या जिसकी जिसमें रुचि होती है वह नाम रख लेता है तो जिसमें उपयोग बना हुआ है वह नाम व्यवहार में भी लोग कह डालते हैं। यहाँ तो जिस ओर उपयोग बना है बस आत्मा उस रूप है। आत्मा का लक्षण भी उपयोग है और उपयोग में बस रहे हुए स्वभाव बाह्य विभाव भी विभावरूप बन रहे हैं, और उपयोग में बस रहा हुआ शुद्धज्ञायक स्वरूप हो तो वह शुद्ध आत्मा है।

शुद्धात्मत्व की पद्धति—भैया ! परद्रव्य का निरूपण करने वाले व्यवहारनय का विरोध नहीं करके और स्व द्रव्य का निरूपण करने वाले निश्चय का आलम्बन करके मोह को दूर करने वाला ज्ञानी संत अब पर को अपनाने की सामर्थ्य रख नहीं रहा क्योंकि पर को पर जान लिया। कोई भावत: पर को पर व निज को निज मान सके तो परद्रव्य से हो जाती है उपेक्षा और स्वद्रव्य में ही लग जाता है उपयोग। ऐसी स्थिति में शुद्ध आत्मा का जो उपयोग कर रहा है वह तो शुद्ध आत्मा है, यह सब उपयोग की ओर से देखा जा रहा है। आत्मद्रव्य के अगल-बगल का यहाँ वर्णन नहीं है। उपयोग जिसको ग्रहण किए हुए हैं तो उपयोगात्मक आत्मा वही है जो कुछ उसके घर में आए।

निष्पन्नयोगी का साम्यभाव—बहुत दृढ़तर जिसे शुद्ध अंतस्तत्त्व का अभ्यास हो जाता है उसको तो यह भी कल्पना मात्र जंचती है कि पुद्गल अचेतन है और जीव चेतन है। जैसे जीव जीव को जीवों में साधारणतया पाये जाने वाले चैतन्यगुण की दृष्टि में देखता है तो क्या नजर आता है कि चाहे संसारी जीव हो, और चाहे मुक्त जीव हो सब वह एक समान हैं। ऐसा ज्ञान किया जाता है कि नहीं? और, जब जीव पुद्गल धर्मादिक

सभी द्रव्य उन सबको एक नजर में लें और उस दृष्टि से देखा जाय सब द्रव्यों में सामान्य गुण पाया जाता है तो उस दृष्टि से देखने पर क्या सब द्रव्य एक समान नजर न आयेंगे? क्या वहाँ यह चेतन है यह अचेतन है, यह भेद विदित होगा। तो चेतन और अचेतन भी एक कल्पना है। अब इस आशय को पकड़ें, बहुत मर्म की बात यहाँ कही जा रही है।

निष्पन्नयोगी की दृष्टि का प्रकृष्ट व प्रकृष्टतर विकास—जैसे सब जीवों को एक चैतन्यस्वभाव के नाते से जब निरखा जा रहा है तो क्या उस दृष्टि से यह संसारी है यह मुक्त है, यह भेद आता है? नहीं आता। इसी प्रकार सब द्रव्यों से सब द्रव्यों में पाया जाने वाला जो सत्त्वगुण है केवल उस सत्त्वगुण की दृष्टि से निरखा जाय तो क्या वहाँ जीव चेतन है पुद्गल अचेतन है, यह भेद निरखा जा सकता है? तो जैसे सब जीवों में चैतन्य गुण की निगाह से देखना एक व्यापक और उदार दृष्टि है ऐसे ही सब द्रव्यों को सब द्रव्यों में साधारणतया पाये जाने वाले साधारण गुण की दृष्टि से देखा जाय तो वह दृष्टिव्यापक है और उदार है। इस ही दृष्टि से मूल में एकांत नियम बनाकर जिसने पूर्ण वस्तुस्वरूप कायम किया है उसके मत में यह सारा विश्व ब्रह्म रूप है। किसी का किसी से कोई अन्तर नहीं है। सभी ब्रह्मस्वरूप हैं। इस ब्रह्म का अर्थ सर्व पदार्थों में साधारणतया पाये जाने वाला सत्त्व गुणरूप है। तो इस दृष्टि को कायम रखकर सब कुछ एक सद् ब्रह्म है, यह बात रंच गलत नहीं है, पर व्यवस्था और व्यवहार पुरुषार्थ आगे का काम यह सब केवल इस दृष्टि पर नहीं बन सकता है।

पदार्थ की साधारणासाधारणात्मकता—भैया ! सर्व प्रकार जान लें फिर जिस चाही दृष्टि को मुख्य करके विलास करें उसमें कोई हानि नहीं है, पर प्रत्येक वस्तु का स्वरूप तो समझ में आना चाहिए। यद्यपि सब पदार्थ जाति अपेक्षा एक हैं, सत् रूप हैं फिर भी वस्तु उसे कहते हैं जिसमें अर्थक्रिया होती हो अर्थात् परिणमन होता हो। तो अब इस लक्षण को घटित कर लो। निज-निज स्वरूपास्तित्त्व में रहने वाले वस्तु को मना करके एक सद्ब्रह्म का ही एकांत हो तो भूखों मरना पड़ेगा। न दूध मिलेगा और न अन्न मिलेगा। कहां से दूध लावोगे? सब सद् ब्रह्म ही हैं क्यों एक गाय से ही दूध निकालते हो सब सद् एक ब्रह्म हैं, तो व्यक्ति में अर्थक्रिया होती है और जो अर्थक्रिया जितने में हो जिससे बाहर न हो वह एक द्रव्य कहलाता है। इस दृष्टि से यह बात सर्वप्रथम मालूम पड़ेगी कि अनन्त जीव हैं, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्मद्रव्य व असंख्यात काल द्रव्य हैं, फिर अब व्यापक दृष्टि बनायें, उदार दृष्टि बनाए, यह सब आपकी प्रगति है। मूलतत्त्व को यदि मना कर दिया तो तत्त्व की खोज में वन-वन में भटकने जैसा श्रम होगा। चीज एक न मिलेगी।

अभ्यस्त और निष्पन्न साधना—जैसे प्राथमिक जनों में यह भेद रहता है कि वह मुक्त जीव है, यह संसारी जीव है, यह पशु-पक्षी है, यह मनुष्य है, पर निजतत्त्व का दृढ़तर अभ्यास करने के लिए उस व्यक्ति को अर्थात् निष्पन्न योग में फिर यह भेद नजर नहीं आता प्रत्युत सब जीव चिदानन्द स्वरूप दृष्ट होते हैं। अब इससे और आगे बढ़ो। अब जीव और पुद्गल इन दोनों में जो एक साधारण गुण है अस्तित्त्वगुण, उस दृष्टि से जब निहारा जाता है तब वहाँ चेतन और अचेतन की कल्पना नहीं ठहरती। उसकी अपेक्षा यह प्राथमिक अवस्था है। जहा यह जंच रहा हो कि पुद्गल तो अचेतन है और जीव चेतन है, पर इस प्राथमिक अवस्था से आगे बढ़कर जहा साधारण धर्मदर्शनविषयक निष्पन्नयोग होता है वहाँ सब कुछ एक सत् रूप उसको ज्ञात

है। चेतन और अचेतन का भेद भी वहाँ नहीं रहता है। यह साधन के एक परमसीमा की बात कही जा रही है। अनिष्पन्न योगी को अर्थात् जो एक व्यापक उदार स्वभाव दृष्टि में दृढ़ उपयोगी नहीं होता है उसको तो ये सब बातें कर्तव्य में आती हैं पर वस्तुत्व के नाते से पुद्गल और जीव को देखा जाय तो वहाँ यह पक्ष नहीं होना चाहिए कि यह मेरी जाति का है और यह दूसरी जाति का है। जब केवल सत्त्व दृष्टि है तब वहाँ पुद्गल और जीव ये दोनों भिन्न जाति के ज्ञात नहीं होते। अब उनकी एक ही जाति है। वह क्या? पदार्थत्व, सत्त्व।

निष्पन्नयोगी की निर्विकल्पता—यह शरीर अचेतन है, पुद्गल कायरूप है और परमात्मतत्त्व सचेतन है, वह शुभ्र ज्ञायकस्वरूप है फिर भी अति निष्पन्न योगी को परमात्मतत्त्व में रागभाव नहीं होता और अचेतन पुद्गल में रोषभाव नहीं होता, ऐसे साधनाशील यतियों की उच्च शुद्ध दशा होती है। जैसे यहाँ से कोई अमेरिका, रूस कहीं जाय तो वह पुरुष जब भिण्ड से निकलकर ग्वालियर पहुँचा और उससे कोई पूछे कि आप कहां से आ रहे? तो वह कहेगा कि भिण्ड जिले से आ रहे हैं और यहाँ के बाद जब कानपुर पहुँचा और वहाँ कोई पूछे कि आप कहां से आ रहे हैं? तो वह कहेगा कि मध्यप्रदेश से आ रहे हैं, और मान लो यहाँ से चलकर विदेश पहुंचे और वहाँ कोई पूछे तो वह कहेगा कि हम भारत से आ रहे हैं। तो जैसे-जैसे उसका भ्रमण व्यापक बना तैसे-तैसे उसकी दृष्टि व्यापक हुई, इसी तरह यह पूछा जाय कि आप कौन हैं? तो कोई बतायेगा कि हम अमुक हैं, वैश्य हैं। कदाचित् और अधिक व्यापक दृष्टि बनायी तो कहेगा कि हम मनुष्य हैं, और अधिक व्यापक दृष्टि बनायी तो कहेगा कि हम जीव हैं। इससे भी और अधिक व्यापकता लायें जिसमें कि सब पदार्थ एक स्वरूप में आ जायें तो कहेगा कि हम एक सत् पदार्थ हैं।

विलक्षणता न देखने पर रोष तोष का अनवकाश—भैया ! जब कहा कि हम वैश्य हैं तो वैश्य वंश में इसकी समानता की बुद्धि रही अब उनमें किसी से रोष व तोष न करेंगे। जब यों कहा कि हम मनुष्य हैं तो मनुष्यों में व्यक्तिगत इष्ट अनिष्ट बुद्धि न होने से रोष व तोष नहीं करना और जब उसका यह भाव हुआ कि मैं जीव हू तो जीव में उपयोग लगाकर समझ रहा हो तो जीव में किसी एक से किसी दूसरे से रोष तोष न करेगा। और कभी इस विषय में आए कि हम तो सत्रूप एक पदार्थ हैं तो सत्भूत जितने पदार्थ है उन पदार्थों में किसी एक में रोष करना, किसी एक में तोष करना ये बातें उससे न बनेंगी। तो इतनी अधिक व्यापक दृष्टि से यह ज्ञानी सोच रहा है चूकि जीव और पुद्गल इन दोनों का यहाँ वर्णन है और दोनों द्रव्यों में समान रूप से पाये जाने वाले लक्षणों की दृष्टि लगायी सो भगवान में क्या तोष करना और पुद्गल में क्या रोष करना, ये है एक सत्त्व की दृष्टि रखने वाले निष्पन्न योग की बातें।

परविविक्त निजतत्त्व के अभिमुख होने का उद्यम—जीव और पुद्गल का गुण और पर्यायों से वर्णन करने के बाद ऐसी व्यापक दृष्टि में उतर कर जहा जीव और पुद्गल में भी कुछ कल्पना न की जा सके, उस दृष्टि में लाकर अब आचार्यदेव इस पुद्गलद्रव्य के वर्णन को यहाँ समाप्त कर रहे हैं। कल्याण की दृष्टि में व्यावहारिकता की ओर कुछ कदम बढ़ायें, इस दृष्टि में हमें यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है, इतनी बात जानकर पुद्गल से हटकर एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में हमें उपयोगी होना चाहिए। मुझे करने को काम यह है। जब इसमें निष्पन्न हो जायें तो फिर उस योगी के फिर और उत्कृष्ट दशा होती है कि उसकी दृष्टि में जीव और पुद्गल में भेद नहीं रहता। या तो मोही जीव को जीव और पुद्गल में भेद

नहीं है या अति उच्च निष्पन्न योगी को जीव और पुद्गल में भेद नहीं है। इस प्रकार यहाँ इस पुद्गल द्रव्य का वर्णन समाप्त होता है।

आजीवाधिकार में पुद्गलद्रव्य का वर्णन करके अब धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य का एक गाथा में संक्षेप से वर्णन करते हैं।

गाथा 30

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपोग्गलाणं च।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं।।30।।

धर्मद्रव्य—जो जीव और पुद्गल द्रव्य के गमन में निमित्तभूत है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं और जो जीव पुद्गल के ठहरने में निमित्तभूत है उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं तथा जो जीवादिक समस्त द्रव्यों की अवगाहना का हेतुभूत है उसे आकाश कहते हैं। यह धर्मद्रव्य समस्त लोकाकाश में तिल में तैल की तरह सर्वप्रदेशों में व्यापक है और जैसे बावड़ी का जल स्वयं नहीं चल रहा किन्तु वहाँ बसने वाले मछली और कछुवे के गमन का निमित्तभूत है, इस ही प्रकार यह धर्मद्रव्य स्वयं गति नहीं करता है फिर भी गतिक्रिया परिणत जीव पुद्गल के गमन में निमित्तभूत है। यह धर्मद्रव्य कोई स्वभावगति को ही कर उसमें निमित्तभूत है और कोई विभावगति के कार्य करे उसमें भी निमित्तभूत है यह अन्य पदार्थों के स्वभाव और विभाव क्रियाओं के भेद से कहीं दो प्रकार की निमित्तता नहीं हो जाती है किन्तु गमन मात्र में निमित्तभूत यह धर्मद्रव्य है।

जीव की स्वभावगति में निमित्तता—जब यह जीव शुद्धोपयोग की भावना के प्रसाद से अपने आपके शुद्ध स्वरूप में अपना आलम्बन पुष्ट करता है तो उस शुद्ध परिणमन का निमित्त पाकर ये द्रव्यकर्म स्वयं अपनी परिणति से विनाश को प्राप्त होते हैं और उस समय इस जीव के समस्त क्लेश दूर हो जाते हैं अथवा यों कहो 5 प्रकार के संसार द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन रूप का अभाव हो जाता है ऐसे शुद्ध विकास के अवसर में यह जीव एक समय में ही यहाँ से एकदम सीधा ऊपर चला जाता है जहा तक लोकाकाश है अथवा धर्मद्रव्य अस्तिकाय है। यह शुद्धआत्मा शुद्ध गति से तीन लोक के शिखर तक पहुँचता है।

शुद्धात्मा का स्थायी स्थान—भैया ! परमात्मा का ध्रुव निवास ऊपर है, जहा तक लोक है वहाँ तक गमन करता है, अंत में अवस्थित रह जाता है। यहाँ भी लोग जब परमात्मा की याद करते हैं तो अपना सिर ऊँचा ही तो उठाकर करते हैं किसी को नीचे झुककर भगवान की याद करता हुआ क्या देखा है? जब जो परमात्मा की याद करता है वह ऊपर ही निगाह करके देखता है। और फिर जैसे तूँबी में मिट्टी भरी हो और वह पानी में पड़ी हो तो पानी के नीचे-नीचे ही रहा करती है। वह मिट्टी जब खिर जाती है तब तूँबी वहाँ नहीं ठहर पाती है जब मिट्टी गलकर बह गयी तो तूबी स्वभाव से जल के ऊपर पहुंच जाती है। ऐसे ही द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म का मल दूर होने पर आत्मा लोकान्त में जाता है।

जीव की स्वभावगति का साधन—इस स्वच्छ चित्चमत्कार मात्र आत्मा पर द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का मिट्टी का लेप पड़ा हुआ है। जिस बोझ से यह जीव संसार में दबा है। इस जीव को कभी चेत आए, स्वरूप की परख हो और इस ज्ञानस्वरूप की भावना बनाए तो उसके प्रसाद से द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ये मल दूर हो जाते हैं और उस समय यह जीव एक समय को लोक के अंत तक पहुंच जाता है। उस समय स्वभाव गति क्रिया निमित्त यह धर्मद्रव्य है, यह स्थिति एक मुक्त अवस्था में है। सर्व संकट जहा छूट गए, कर्म भी दूर हो गए, ऐसी मोक्ष की स्थिति इस प्रभु की होती है।

मोह का नृत्य—भैया ! कैसा इस जगत में मोह का नृत्य है कि यह जीव दु:खी भी होता जाता है और उसी मोह और राग को दृढ़ पकड़ता जाता है। जिसके द्वारा जो तकलीफ हुई उस ही का बढ़ावा दिया जा रहा है। जैसे लाल मिर्च का खाने वाला जो खूब लाल मिर्च खाने का शौकीन हो वह सी-सी करता जाता हैं, आंखों से आंसू भी गिरते जाते हैं फिर भी मांगता है कि और दो। आसक्ति है। ऐसे ही इस संसार के विषयों के अनुराग में, मोह में, अपनाने में इस जीव में आकुलताए क्षोभ समाये जा रहे हैं और उन आकुलताओं को सहन न कर सकने के कारण उन आकुलताओं के कारणभूत उन ही विषयसाधनों का ये जीव आह्वान करते जाते हैं। पर यह बात ध्रुव सत्य है कि संसार में सर्वत्र क्लेश ही क्लेश हैं। इनसे यदि बचना है तो अपने आपके सहज स्वभाव का परिचय करना ही होगा और यही स्वरूपाचरण जो आत्मदर्शन के अवसर में प्राप्त हुआ है यही वृद्धिगत होकर परमात्मस्वरूप तक पहुंचा देता है।

शुद्धात्मा की अनुश्रेणि ऊद्र्ध्वगति—सिद्ध प्रभु 6 अपक्रम से अब रहित हैं। जहा से यह मनुष्य मुक्त हुआ है उसही के ठीक सीध में आकाश का एक प्रदेश भी टेढ़ा नहीं जाता है किन्तु एकदम सीध में यह शुद्धात्मा गमन करता है। यह संसारी जीव मरने के बाद 6 ओर से गमन किया करता है। पूरब से पश्चिम को, पश्चिम से पूरब को, पश्चिम से उत्तर और उत्तर से दक्षिण, ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर। इस तरह 6 अपक्रमणों में नवीन देह धारण करने के लिये गमन किया करता है और जीवन में तो यह जीव इतनी भी सीध नहीं रखता है अर्थात् गोल चल दे, तिरछा चल दे, जैसा चाहे चल दे किन्तु सिद्ध भगवान कर्मों से मुक्त होते ही एकदम सीधे ऋजुगति से मोक्ष निवास में पहुंच जाते हैं।

प्रभुता की व्यक्ति की व पहिले की स्थितियां—मुक्ति से पहिले भगवान अयोग केवली रहते हैं और इससे पहिले सयोग केवली हुआ करते हैं। इससे पहिले साधना की अवस्थाए हुआ करती हैं और उन साधनों की अवस्थाओं से पहिले यह प्रमाद अवस्था में साधु रहता है, उससे पहिले कुछ भी हो अविरत सम्यग्दृष्टि रहे या देशव्रती श्रावक रहे सब संभव है। तो यह जीव अभ्यास बल से सबसे पहिले जितेन्द्र बनता है, यह बहुत बड़ी साधना है अपनी इन्द्रियों पर विजय किए रहना। पंचेन्द्रिय के विषयों में यह समस्त लोक अपने मार्ग से च्युत होकर भटक रहा है। उन इन्द्रियों पर विजय करना सबसे पहली फतह है।

रसनेन्द्रियविजय—भैया ! जरा कहने में तो आसान लगता है कि क्या बात है, न खायें रसीले, चटपटे भोजन आखिर गले के नीचे उतरने के बाद घाटी नीचे माटी की हालत हो जाती है। एक सेकेण्ड का स्वाद न आवे तो क्या बिगड़ता है? एक सेकेण्ड के उस स्वाद की प्रबलता में कितने ही रोग कितने ही दोष ये अपने आपमें मोल ले लेते हैं। सीधा सात्विक खावो और रोग से बचे रहो तो कौनसी अटक पड़ती है? स्वादिष्ट

चाय पी लो तो इसमें कौनसा लाभ मिलता है? हाँ नहीं किया जायेगा पर ज्यों ही विषय साधन समक्ष आते हैं तो यह मोही जीव उनको भोगे बिना रह नहीं पाता है। कितना व्यामोह है संसारी प्राणी का।

चक्षुरिन्द्रियविजय—एक रसनाइन्द्रिय की ही बात नहीं है—जो बहुत दूर की इन्द्रिय है, जिसका विषयों से सम्बन्ध भी नहीं बनता ऐसे चक्षुरिन्द्रिय विषय का भोग क्या इसके कम रोग की बात है। अरे न देखें बाहर में किसी चीज को तो कौनसी अटक हो जाती है, कौनसा घाटा पड़ जाता है, पर सुन्दर रूप की बात तो दूर रहो, कोई चीज सामने से निकल जाय, चाहे सड़क से रद्दी ढेला ही निकलने लगे, लो आंखें वहाँ पहुंच ही जाती हैं। कैसी यह व्यर्थ की व्याधि लगी हुई है। न देखा रूप, न देखा बाहर कुछ तो आत्मा में कौनसी हानि होती है? पर नहीं रहा जाता है। जबकि देखो रसना और नेत्र इन दोनों को वश में करने के लिए प्राकृतिक ढक्कन लगे हुए हैं। मुँह में दो ओठों का ढक्कन लगा है, इनको बंद कर लिया तो इस रसना विषयक का ढक्कन लग गया। इसी तरह नेत्र के दोनों ढक्कन बंद कर लिए तो सारी आफत मिट गयी। मगर मोह के रोग में यह जीव इन ढक्कनों को बंद नहीं कर सकता है।

शेषेन्द्रियविजय—और इन दो इन्द्रियों की ही बात नहीं है, कान भी कैसा खड़े रहा करते हैं, नाक भी कैसा सदा तैयार रहा करती है गंध लेने के लिए। इसका द्वार तो कभी बंद ही नहीं होता। नाक का द्वार सदा खुला रहता है। कान का द्वार भी सदा खुला रहता है। खूब शब्द सुनते स्पर्शन कामभाव का विषय तो मुग्धतापूर्ण है। तो ऐसे इन विषयों के वश में होकर यह जीव अपनी बरबादी किए जा रहा है। उनसे बचने का जिसने यत्न किया है वे जितेन्द्रिय हो जाते हैं।

इन्द्रियविजय धर्ममार्ग का प्रथम कदम—धर्म मार्ग में सबसे पहिले जो कदम उठता है चारित्र के रूप में वह इन्द्रिय विजयता का उठता है और साधारण लोग तक के भी धर्म की बात मन में आती है तो भोजन के त्याग की बात पहिले कर ली जाती है। अमुक रस आज नहीं खाना है, आज एक बार ही खाना है या इतना-इतना त्याग सहित खाना है। सबसे पहिले तो भोजन पर ही दृष्टि जाती है। धर्ममार्ग में और बात भी देखो जब तक जितेन्द्रियता नहीं प्रकट होती है तब तक परिणामों में विषय और कषाय का अभाव नहीं हो सकता। सबसे पहिले इन्द्रिय विषय पर विजय किया जाता है तत्पश्चात् कषायों के दूर करने में सफलता होती है। और जब कषाय दूर हो जायें तब फिर यह निष्कषाय होने के बाद सयोगकेवली भगवान बनता है।

अयोगकेवली गुणस्थान के पश्चात् जीव की स्वभावगति—वीतराग आत्मा भगवान हो गया। शरीर बना हुआ है, विहार चल रहा है, दिव्य ध्वनि भी होती है, यहाँ के लोगों के उनका दर्शन होता है। ऐसा सयोगकेवली भगवान बहुत दिनों के पश्चात् जब उनका संसार छूटता केवल अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाता है तब वह अयोगकेवली हो जाता है। उस गुणस्थान का समय 5 ह्रस्व अक्षर बोलने के बराबर है। स्वरों में ह्रस्व 5 ही होते हैं। इन ह्रस्व अक्षरों को जल्दी बोलने में जितना समय लगता है उतने समय में वह अयोगकेवली भगवान गुण स्थान को तजकर, शरीर से अलग होकर लोक के शिखर पर विराजमान् हो जाता है। यहाँ भगवान के स्वभावगति की क्रिया का परिणमन है। उनका पंचम गति को जाने में अर्थात् सिद्ध होने में जो भगवान गमन होता है उस गमन का हेतुभूत जो द्रव्य है उसका नाम है धर्मद्रव्य।

विभावगति के निमित्त का विवरण—संसारी जीवों के विभाव गति क्रिया होती है जो कि मरने के बाद उपक्रम करके सहित होती है उस क्रिया का भी हेतुभूत धर्मद्रव्य है और जीवन अवस्था में कैसा भी यह गमन कर, तिरछा, टेढ़ा, गोल ऐसे विषम गमन का भी कारणभूत यह धर्मद्रव्य है, जैसे पानी के गमन में पनालिया कारण होती हैं इस ही प्रकार जीव और पुद्गल के गमन में कारण धर्मद्रव्य होता है। यह धर्मद्रव्य रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित है, अमूर्त है। इसमें 8 प्रकार का न स्पर्श है, न 5 प्रकार का वर्ण है, न 5 प्रकार का रस है और न दोनों प्रकार का गंध है। आकाशवत् अमूर्त सूक्ष्म किन्तु लोकाकाशप्रमाण व्यापक यह धर्मद्रव्य है, यह अपने आपके द्रव्यत्व और अगुरुलघुत्वगुण के कारण अपने आपमें निरन्तर परिणमता रहता है। उसका आकार वही है जो लोक का आकार है।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य व लोकाकाश के आकार की समानता—लोक का आकार इसी प्रकार का बताया गया है कि जैसे मानों 7 पुरुष एक से कद के हों और एक के पीछे एक इस तरह सातों खड़े हो जायें दोनों पैरों को पसारकर और हाथों को कमर पर रखकर तो ऐसी स्थिति में एक सिर भाग को तो न सोचा जाय और बाकी जो कुछ आकार है यह आकार धर्मद्रव्य का है, लोकाकाश का है, अधर्मद्रव्य का है।

धर्मद्रव्य के गुण का दिग्दर्शन—इस धर्म द्रव्य में शुद्ध गुण होते है और शुद्ध पर्याय होती है। यह शाश्वत है, शुद्ध है, और उसकी पर्याय भी शुद्ध है। धर्मद्रव्य का गुण क्या है इस बात को समझने का अपने पास कोई उपाय नहीं है, किन्तु युक्ति से अवगत व आगमगम्य पदार्थ है यह धर्मद्रव्य जीव पुद्गल के गमन में कारण होता है, यह तो आपेक्षिक कथन है। किसी द्रव्य का गुण किसी दूसरे द्रव्य में परिणमन की अपेक्षा रखकर नहीं हुआ करता है। तो धर्मद्रव्य का यह गति हेतुत्व गुण जो जीव और पुद्गल की गति परिणति की अपेक्षा रखता है, वह अविभागप्रतिच्छेदात्मक स्वभाव गुण हो, ऐसा नहीं है। वह अपेक्षित धर्म है। जैसे कोई अंगुली छोटी है, कोई बड़ी है, कोई मजबूत है, तो यह अपेक्षित है। कहीं एक ही अंगुलि को देखकर छोटी बड़ी तो नहीं कहा जा सकता है ऐसे ही मात्र धर्मद्रव्य को ज्ञान में लेकर उसका गुण खोजें तो गुण नहीं बताया जा सकता है। धर्मद्रव्य का यह गतिहेतुत्वरूप लक्षण औपचारिक है, धर्मद्रव्य किस बात में निमित्त होता है, ऐसा बताने के लिए यह एक कथन है। वस्तुत: धर्मद्रव्य अपने द्रव्यत्व और अगुरुलघुत्वगुण के कारण निरन्तर षड्गुणहानि वृद्धि रूप में अपने आपमें परिणत है, किन्तु शुद्ध द्रव्य होने के कारण भाव, विभाव, प्रभाव विदित नहीं होता है।

धर्मद्रव्य का गुण व पर्याय के रूप में वर्णन—गुण सहभावी हुआ करता है और पर्याय क्रमभावी हुआ करते हैं। धर्मद्रव्य में एक साथ जो कुछ उसमें पाये जाते हैं वे सब धर्मद्रव्य के गुण हैं। साधारण गुणों की तो खबर है ही। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशित्व, प्रमेयत्व ये 6 गुण हैं। इन 6 गुणों के आधारभूत ये धर्मद्रव्य है, पर उसमें कोई विशेष गुण भी अवश्य है। कोई द्रव्य ऐसा नहीं है कि जिसमें केवल साधारण गुण तो हों और विशेष गुण कोई न हो। यदि विशेष गुण कोई नहीं है तो वह द्रव्य ही नहीं ठहर सकता है और यदि साधारण गुण नहीं है तो विशेष गुण किसके आधार पर विराजें? सो साधारण गुण न हो या असाधारण गुण न हो तो वस्तु का सर्वथा अभाव होने का प्रसंग आता है। है कोई धर्मद्रव्य में असाधारण गुण। गुण के

विवरण के प्रसंग में जीव और पुद्गल का गतिहेतुत्व बना करता है। ऐसे जीव और पुद्गल के गमन में कारणभूत धर्मद्रव्य का वर्णन किया गया है।

अधर्मद्रव्य का विवरण—अधर्मद्रव्य का भी यही हाल समझो। जो कुछ धर्मद्रव्य के विषय में बताया गया है वही सब कुछ विशेषण अधर्मद्रव्य में है। यहाँ केवल साधारण कार्य की निमित्तता में ही अन्तर है कि धर्मद्रव्य तो जीव पुद्गल की गति में कारण है किन्तु अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की स्थिति में कारण है विशेष गुण का अन्तर आ गया, उसको इस विशेष गुण की मुख्यता न करना तो धर्म अधर्म परस्पर में एक समक्ष आता है वहाँ यह विश्लेषण करने की गुञ्जाइश नहीं रहती है। यों इस प्रकरण में धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का वर्णन किया गया है। जैसे धर्मास्तिकाय के गुण शुद्ध और पर्याय शुद्ध होती है, ऐसे ही अधर्मद्रव्य भी गुणपर्याय से शुद्ध रहता है। इन अमूर्त द्रव्यों के गुण स्पष्ट नहीं जान सकते, विशेष अपेक्षित गुण के द्वार से धर्म और अधर्म का मान कर सकते हैं।

आकाश का स्वरूप—आकाशद्रव्य का विशेष गुण है द्रव्यों को अवगाह देना, यह सब आपेक्षिक कथन चल रहा है। आकाशद्रव्य किसी को अवगाह देता फिरे, ऐसी उसकी कोई परिणति नहीं है, वह तो अपने अगुरुलघुत्व गुण के परिणमन से परिणमता हुआ एक द्रव्य है पर उसके स्थान में पदार्थ रहता है, इस कारण वह अवगाह का निमित्त है और उसे अवगाहन का हेतु कहा गया है। अवगाहन आदि में समर्थ तो सभी द्रव्य हैं परमाणु की जगह दूसरा परमाणु रह जाता है जीव के स्थान में अनेक पुद्गल पड़े हुए हैं। तो इस पदार्थ में भी अपने आपमें दूसरों को समा लेने की सामर्थ्य है पर ऐसा होते हुए भी स्थान तो आकाश में ही है इसलिए अवगाहन का हेतु आकाश को कहा गया है।

लोकाकाश और अलोकाकाश—धर्म और अधर्म के शेष गुण आकाश के शेष गुणों में सदृश हैं अथवा जो साधारण गुण धर्म अधर्म का है वह ही आकाश में है, जो आकाश में है वह ही धर्म अधर्म में है। लोकाकाश धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का एक समान परिमाण है। पर अलोकाकाश इससे अधिक है अनन्तगुणा। आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। आकाश के दो भेद नहीं होते हैं किन्तु आकाश के जितने प्रदेशों में समस्त द्रव्य ठहरते हैं उतने का नाम लोकाकाश है और जहा केवल आकाश ही आकाश है उसका नाम अलोकाकाश है।

सर्वज्ञेयों के जानने का प्रयोजन—भैया ! यह सब कुछ जान लो। जो गति का कारण है वह धर्मद्रव्य है और जो स्थिति का कारण है वह अधर्मद्रव्य है। समस्त द्रव्यों को स्थान देने में प्रवीण आकाशद्रव्य है। इन सबको भली प्रकार द्रव्य रूप से जान लो और जानकर कहीं उनमें प्रवेश नहीं करना है, उनमें उपयोग नहीं फसाना है। जान लो, ज्ञेयतत्त्व न जाना तो एक वह अज्ञान अँधेरा है। ऐसी स्थिति में ज्ञान प्रगति का अवसर नहीं होता है।

अनात्मतत्त्व के जानने की आवश्यकता—ये सब पदार्थ तो अभी सम्बन्धित हैं, यह मैं आत्मा हू। इसमें कोई मलिनता है, क्यों इसकी दुर्दशा है? उसमें निमित्त है उपाधि, उस उपाधि का वर्णन किया जाना चाहिए। ऐसे पुद्गलों का वर्णन आवश्यक है। उपाधि का निमित्त पाकर बाह्य पदार्थों का आश्रय बनाकर ये रागद्वेषादिक हुआ करते हैं। सो बाह्य विषयों का भी बोध कराना चाहिए। सो ऐसे पुद्गलों का भी वर्णन आयेगा। यह जीव द्रव्य डोलता है, गमन करता है, कहां तक गमन करता है? क्यों गमन करता है, अनेक प्रश्न उपस्थित होते

हैं, उनका समाधान मिलता है धर्मद्रव्य का वर्णन होने से। यह चलकर ठहरता भी है और कहीं आखिरी सीमा में ठहर जाता है ऐसा समझने के लिए अधर्मद्रव्य का वर्णन है और आकाशद्रव्य तो अमूर्त होता हुआ भी, न दिखता हुआ भी लोगों को परिचय में हो रहा है। यह सब आकाश ही तो है, जहाँ पोल है, जहाँ हम रहते है वह आकाश है। हम कहां रहते हैं, उसका समाधान करने को आकाशद्रव्य का वर्णन जानना। वस्तुत: प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणति से परिणमता है और अपने ही प्रदेश में उसका अवधान है। फिर भी बाह्य बात, विभावों की बात बाह्य अटक ये सब जानने से ओझल नहीं किए जाते। इस कारण सभी द्रव्यों का वर्णन जानना आवश्यक हो गया है।

पर से अलगाव व निज में लगाव का यत्न—जान लिया, पर जान करके मोक्षार्थी पुरुष सदा निजतत्त्व में ही प्रवेश करे। जानने की बातें जानने की जगह हैं, पर करें क्या, कहां प्रवेश पायें? यह आत्महित के जानने के लिए एक अनिवार्य बात हैं, हम अपने आपके जानने में रहते हैं तब आकुलता नहीं होती, क्योंकि आकुलता का निर्माण किसी परविषय का आश्रय करके होता है। कोई मनुष्य किसी पर को तो उपयोग में न रखे और आकुलता कर ले, ऐसा नहीं हो सकता। कोई परविषय लक्ष्य में रहता है, उपयोग में रहता है तब ही आकुलता मच सकती है तो निराकुल होने के लिए यह आवश्यक है कि हम किसी पर में न फसें और केवल निज शुद्ध ज्ञायक स्वरूप की दृष्टि बनाए रहें।

आनन्द प्राप्ति का साधनभूत ज्ञान—आनन्द पाने का कितना सुगम उपाय है कि बाहर से उपयोग नेत्र को बंद किया जाय यह मैं ज्ञान नहीं, स्वभाव मात्र स्वयं तो हू ऐसी दृष्टि बनाए तो यह शीघ्र शांति प्राप्त कर लेता है। कितना व्यर्थ का यह ऊधम है कि न पर से इस मुझमें कुछ आना है और न मुझसे किसी पर में कुछ जाना है, कोई वास्ता नहीं है। मैं मैं हू, पर पर है, फिर भी कितना बोझ इस जीव ने अपने पर लादा है कि बोझ की वजह से यह कभी विश्राम नहीं ले पाता। यत्र तत्र दौड़ लगाये चला जाता है। बिना कारण यह अपने आपमें संक्लेश बनाए रहता है। सब विवरणों का अर्थ यह है कि न कुछ पर से हममें परिणति आती है और न हमसे पर में कुछ जाता है। ये अपने घर के हैं, हम अपने घर के हैं, किन्तु परदृष्टि करके अपने आपमें कल्पनाए बनाकर यह दु:खी होता रहता है। यदि सब द्रव्यों को जानकर प्रवेश करना है तो अपने निजतत्त्व में प्रवेश करना है। पर का जानना पर से निवृत्त होने के लिए किया जा रहा हैं। पर में फसने के लिए पर का जानना नहीं किया जाता है। यहाँ तक अजीवाधिकार में पुद्गल, धर्म, अधर्म का वर्णन किया, अब शेष रहा जो कालद्रव्य है उसका वर्णन अगली गाथा में किया जा रहा है।

गाथा 31

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं।
तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु।।31।।

काल की परमार्थ पर्याय व अल्पतम व्यवहारपर्याय—इस गाथा में व्यवहार काल का स्वरूप कहा है। कालद्रव्य की पर्यायों का स्वरूप कहा जा रहा है। कालद्रव्य की पर्याय वस्तुत: एक समय है। अब उन समयों

का संचय करके अर्थात् ज्ञान में बहुत से समयों के समूह को जोड़कर फिर अन्य भेद किया जाता है। काल के दो भेद बताए जा रहे हैं—समय और आवली। यद्यपि भेद बहुत से हो जाते हैं पर परमार्थ से तो काल का भेद समय है और व्यवहार में जब अपन चलें, व्यवहार काल को जब उपयोगात्मक जाना तो उन सबमें सबसे छोटा काल है आवली। एक स्वतंत्ररूप और एक व्यावहारिक रूप, इस तरह से काल के ये दो भेद कहे गये हैं।

काल का मूल व्यावहारिक भेद—आँख की पलक तुरन्त बंद करने में और बंद करके तुरन्त उठा देने में जितना समय लगता है उसे बहुत छोटा समय कहेंगे, पर इतने समय में अनगिनती आवलियां हो जाती हैं। उनमें से एक आवली को व्यवहार काल का रूप दिया है। यों काल द्रव्य में परिणमन के दो प्रकार हैं—समय और आवली। अथवा एक दृष्टि से काल 3 प्रकार का है भूत काल, वर्तमान काल और भविष्यत् काल। इन तीनों में समस्त काल आ गए। वर्तमान काल तो वर्तमान हुआ और सारा व्यतीत हुआ काल भूतकाल हुआ और आगे होने वाले समस्त भविष्यत् अतीत काल से भी बड़ा है, हैं दोनों असीम।

अतीतकाल का प्रमाण—काल के वर्णन में यह बतला रहे हैं कि अतीत काल है कितना? इसको आचार्य देव ने बड़ी कलापूर्ण ढंग से बताया है कि जितने संस्थान हुए हैं आज तो सिद्ध हुए हैं उनके जितने जन्म हुए हैं, जितने शरीर मिले हैं उन संस्थानों में असंख्यात आवलियों का गुणा कर दिया जाय, जितना लब्ध हो उतना काल व्यतीत हो गया। इसका भाव यह है कि आज जो सिद्ध हैं उन्होंने जितने जन्म पाये हैं, सो एक जन्म असंख्यात आवलियों का तो होता ही है, ऐसी असंख्यात आवलियों के समय का गुणा कर दिया जाय तो अतीत काल है। कितनी उत्तम पद्धति से अतीत काल का वर्णन है?

समयपर्याय का स्वरूप—इनमें से अब समय की व्याख्या की जा रही है कि आकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु ठहरता है, एक परमाणु मंदगति से गमन करके एक प्रदेश को उल्लंघन कर दे जितने क्षण में उसको एक समय कहते हैं। परमाणु की तीव्र गति हो तो वह एक समय में 14 राजू गमन कर जाता है। इसी कारण परमाणु की मंदगति से समय का लक्षण बन सकता है और एक परमाणु जिस प्रदेश पर है उसके पास के प्रदेश पर पहुंच जाय जितने क्षण में, उसका नाम है एक समय। वैसे भी इससे अनुमान करो कि जिसे हम वर्ष कहते हैं उसका आधा तो कुछ हो सकता है। वे है 6 महीने और जिसे 6 महीने कहते हैं उसका भी आधा कुछ हो सकता है ना, उसे कहते हैं 3 महीने। जिसे हम दिन कहते हैं उसका भी तो आधा कुछ है। जिसको हम मिनट कहते हैं, उसका भी तो आधा कुछ है। इसी तरह सेकेण्ड का भी कुछ हिस्सा होता है ना। इसी तरह हिस्सा करते हुए वह अन्तिम हिस्सा जिसका हिस्सा न बन सके उसका नाम है एक समय। यह समय व्यवहार काल अर्थात् परमार्थभूत जो कालद्रव्य है उस कालद्रव्य का एक शुद्ध परिणमन है।

व्यवहारकाल का विस्तार—ऐसे-ऐसे असंख्यात समय मिल जायें तो उनसे बनता है फिर निमिष। निमिष कहते हैं नेत्र के जो पुट हैं उनमें पलक छू जाय और हट जाय, इतने में जितना समय व्यतीत होता है उतने को कहते हैं निमिष और 8 निमिष बराबर होते है एक काष्ठा के और 16 काष्ठा बराबर होते हैं एक कला के और 32 कला बराबर होते हैं एक घड़ी के और 60 घड़ी बराबर होते हैं एक दिन के और 30 दिन का होता है एक महीना और दो माह का होता है एक ऋतु, तीन ऋतुवों का होता है एक अयन, जिसे कहते है

दक्षिणायन, उत्तरायण। आजकल समय है उत्तरायण का और दो अयन का होता है एक वर्ष। इस तरह और भी बात आगे लगाते जावो 12 वर्ष का होता है एक युग और भी आगे चलते जावो। यों व्यवहार समय अपनी कल्पना के समयों के संचय से अनेक प्रकार के होते हैं।

अपनी अतीत की झांकी—भैया ! बतावो अब कितना समय व्यतीत कर डाला अनन्त काल व्यतीत किया। किन-किन परिस्थितियों में? ऐसी ही संसार की दशाओं में व्यतीत किया है। अनन्त काल तो हमारा निगोद में गया। निगोद नाम कहने से तो आया वनस्पति का भेद, साधारण वनस्पति पर वह हरी नहीं है। उसका शरीर भी व्यवहार के लायक नहीं है। वे निगोद कहीं आश्रय में रहते हैं, और अनन्ते निगोदिया जीव निरालम्ब रहते हैं। जो आश्रय में रहते हैं और जिस आश्रय में रहते हैं उन सबका मिलकर नाम है सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति और जो निराश्रय हैं उनका नाम है सूक्ष्म निगोद अर्थात् साधारण वनस्पति। इन सब निगोदों की आयु 1 श्वास के 18वां भाग प्रमाण मानी जाती है, पुरुष की नाड़ी एक बार उचकने में जितना समय लगाये उतने समय का नाम श्वांस है। नाड़ी के एक बार चलने में जितना समय लगता है उतने में 18 बार मर जाते हैं वे निगोद जीव। ऐसे जन्ममरण के महाक्लेश पाते हुए निगोदभव में अनन्तकाल व्यतीत हुआ।

स्थावरों में परिभ्रमण—कभी निगोद से निकले और हो गए अन्य स्थावर जीव—पृथ्वी, जल, अग्नि , वायु और पेड़ तो इसमें भी हमने क्या हित किया? असहाय पृथ्वी आदिक स्थावर अपना किसी भी प्रकार बचाव नहीं कर सकते। और वे खुद तड़पकर अपनी जगह भी छोड़ दें वे इतना भी नहीं कर सकते हैं। पृथ्वी को खोदते हैं, लो कहीं आग लगा दी जाती है। कितनी ही प्रकार से पृथ्वी का हनन हो रहा है। जल को गरम कर डाला, आग पर जला दिया, आदिक रूपों से वहाँ भी जल का घात हुआ। अग्नि को बुझा दिया और विशेष करके यह परम्परा न जाने किस बुद्धिमान् के जमाने से चली कि साधु को भोजन बनाया तो कोयला बुझा दिया, आग पर पानी डाल दिया और चूल्हे को साफ कर दिया। साधु हैरान हो जाते हैं, न जाने आकाश में भोजन बनाया या चूल्हे में बनाया। सीधी बात है कि गृहस्थों के यहाँ भोजन बन रहा है, साधु को पड़गाह लिया, पहुंच गए जितनी देर साधु को आहार देने का समय है उतनी देर नया भोजन न बनाये जाने की बात थी, मगर इतनी अप्राकृतिकता हो गयी, साधु की तो कोई कष्ट ही नहीं है। कष्ट है तो गृहस्थों को घंटा भर पहिले आग बुझा दिया और द्वार पर बाट देखते रहे, फिर घर की रोटी बनाने को आग जलायेंगे। तो आप समझो कि आग का बुझाना विवेकी गृहस्थ तो नहीं करते। तो अनेक प्रकार से आग को भी कष्ट दिया। वायु को रबड़ में रोग दिया अथवा अनेक प्राकृतिक रूपों से वायु का आघात किया। पेड़-पौधों की तो बात ही कौन कहे हैं। चले जा रहे हैं, तोड़ दिया, काट दिया, छेद दिया, भेद दिया, अनेक प्रकार से वनस्पति के भव में क्लेश भोगे।

त्रस भव के क्लेश—कदाचित् स्थावरों से निकले तो दो इन्द्रिय लट आदि बना, तीन इन्द्रिय बना, चार इन्द्रिय बना। कौन मनुष्य इनकी परवाह करता है? कितने ही लोग तो जमीन पर चलते हुए कीड़ों पर अपना मन बहलाने के लिए नाल गड़े जूतों से रगड़ देते हैं, दिल बहल गया। किन्तु कभी पंचइन्द्रिय हुआ तो वहाँ भी बड़े कष्ट सहे। किन्हीं हिंसक जानवरों ने खा लिया। और चूहे हुए तो बिल्ली ने पकड़ लिया और कुत्ता बिल्ली से बच जाय तो अनेक बिना पूछ के कुत्ता बिल्ली भी हैं। पकड़ा, डोरा से बाँध लिया और खेल करना

हो तो नीचे आग जला दिया, कितना कष्ट है? ये सब कष्ट दूसरे के नहीं हैं, हमारे ही समान वे भी जीव हैं, अथवा हम भी ऐसी पर्यायों में हुए थे। चिड़िया, बैल, गाय, भैस, कुत्ता, बिल्ली, सूकर, गधा सभी के क्लेश देखते जावो। इन पशुओं को लोग तब तक लाड़-प्यार से पालते हैं जब तक इनसे खूब पैसा पैदा होता है, आय होती है। वे जानवर बूढ़े हो जायें, आय न हो तो उन्हें कौन पूछेगा? काम तो करते नहीं, सो उन्हें कोई नहीं पूछता है। देव नारकी हुए तो दु:खी रहे।

मनुष्यभव का लाभ—भैया ! कितने प्रकार के हम आपने अनेक कष्ट भोगे और आज हम आप मनुष्य बने, एक सभ्य भव मिला, ढंग से बैठ सकते हैं, अनेक प्रकार से भोजन बनाकर खाते हैं, पलंगों को बिछाकर सोते हैं, अनेक वाहनों का उपयोग करते हैं, अपनी बात दूसरों को सुना सकते हैं, दूसरों की बात को हम समझ सकते हैं, पशु पक्षी आदि सभी तिर्यञ्चों की अपेक्षा हम आपका कितना बड़ा विकास है और छोटी-छोटी बातें क्या बताए? उनकी पीठ पर कहीं मक्खी बैठ जाय तो उड़ाने का साधन भी पूछ है। उसी से उड़ा सकते हैं पर आपके तो दसों उपाय हैं। कपड़ा पहिन लिया, हाथ से उड़ा दिया। मनुष्य की नाक सूख जाय तो अंगुली भीतर डालकर नाक साफ कर लें पर पशु बेचारे किस तरह से अपनी नाक साफ करें? अच्छी प्रकार से देख लो—परमार्थ ज्ञान से, सभी दृष्टियों में हम आप कितने महान् भव को प्राप्त हुए हैं? ऐसे भव को पाकर भी वही विषय कषाय आहार, नींद, भय, मैथुन आदि विषयों में ही रहे और वही ममता रही तो बताओं मनुष्यभव पाने का लाभ क्या लूटा?

विषयकषायों का फल—विषयकषायों के फल में वही तो होगा ना कि जहा से उठे वहीं से गिरे। तिर्यञ्च में, निगोद में। जैसे कहते हैं कि एक साधु के पास चूहा था सो वह चूहा बिल्ली से डरा। तो साधु ने चूहे को आशीर्वाद दिया कि तू बिल्ली हो जा, सो वह बिल्ली बन गया। बिल्ली कुत्ते से डरी सो कहा कि तू कुत्ता बन जा, सो वह कुत्ता बन गया। कुत्ता शेर से डरा सो साधु ने कहा कि तू शेर बन जा सो वह शेर बन गया। शेर को चाहिए था भोजन सो शेर ने सोचा कि साधु महाराज को ही क्यों न पहिले खायें, इनसे अच्छा मास और किसका होगा? सो वह शेर साधु पर झपटा, सो साधु ने कहा कि तू पुन: चूहा बन जा। सो वह पुन: चूहा बन गया। यों ही हम आप निगोद आदि से निकल कर मनुष्यभव में आए और मनुष्य होकर इस ही आत्मदेव पर हमला करने को तैयार होते हैं तो इस आत्मदेव को यही भर तो अन्तर में कहना है कि तू पुन: निगोद बन जा या तिर्यञ्च बन जा। तो इस अनन्त काल में आज एक दुर्लभ शरीर पाया है, उसे यों ही खो दिया तो यह तो महामूर्खता की बात है। कभी तो यह उद्यम हो कि हम बहुत बार ऐसी स्थिति लाए कि पर से उपयोग हटाकर इस ज्ञानानन्द स्वरूप को निरखा करें तो इस करतूत से हमारा जन्म सफल होगा।

सोदाहरण अतीतकाल का विवरण—अतीत काल कितना है? अतीत काल का प्रमाण बतला रहे हैं कायदे मुताबिक कि जो शुद्ध हुए हैं उनकी सिद्ध पर्याय बनने से पहिले जितने संसार अवस्था में उनके संस्थान हुए हैं, जन्म हुए हैं, शरीर मिले हैं उनमें असंख्य आवलियों का गुणा करके उतने बराबर काल व्यतीत हुआ। कोई पूछे कि 100 कितने होते हैं? अरे 100 के आधे कर लें और उतने ही और मिला दें तो इतने 100 होते हैं कायदे मुताबिक उत्तर ठीक हो गया ना। केवल ज्ञान के कितने अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों में कितनी गिनती है कि सब जीव सब पुद्गल अतीत काल और आकाश के प्रदेश

और-और सब बहुत बातें जितनी होती हों सब, उससे भी केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद अनन्तगुणे हैं अर्थात् ऐसे-ऐसे अनन्त आकाश काल जीव पुद्गल होते तो उन सबको भी केवल ज्ञान जानता है। तो केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद में से ये आकाश, जीव, पुद्गल, ये सब प्रदेश परमाणु घटा दें। जितने बचें उतने में फिर उतने ही मिला दें तो पूरा हो जायेगा। चीज कायदे में तो समझ में आ गयी होगी।

अतीतकाल से भविष्यत्काल की वृहत्ता—इसी तरह पुनः लगावो, अतीत काल कितना हुआ? जो सिद्ध हुए हैं उन्होंने संसार अवस्था में जितने जन्म पाये हैं उनमें असंख्य आवलियों का गुणा कर दें, जितना काल लब्ध हो उतना व्यतीत हो गया। समझ में तो आ गया पर कितना व्यतीत हुआ यह पकड़ में नहीं आया। पकड़ में कैसे आए? वह तो अनन्त काल है और अनागत काल अथवा भविष्य का काल कितना है वह भी इतना ही है कि भविष्य में जो सिद्ध होंगे उसके बाद भी जितना काल व्यतीत हुआ उससे भी अधिक काल। देखो मजे की बात कि आज पूछ रहे हैं कि अतीतकाल कितना है और भविष्यकाल कितना है। तो यही बतावोगे कि अतीतकाल अनन्त है और भविष्यकाल अनन्त है। फिर भी दोनों में बड़ा कौन है? भविष्य का काल बड़ा बताया है। दिखाई किसी को नहीं देता है। तो ये सब व्यवहार काल के विस्तार हैं।

व्यवहारकाल का उपमाप्रमाण तक विस्तार—समय, निमेष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन, रात, महीना, ऋतु, अयन और वर्ष। फिर इसके बाद गिनती चलेगी। सौ वर्ष, हजार वर्ष, लाख, करोड़, अरब, खरब, नील, महानील, शंख, महाशंख और इसके बाद पूर्व, पूर्वांग, फिर नयुतन युतांग, नलिन, गिनते जाइए, हा हा हू हू न, ये सब संख्यात में बताये हैं। बीच में कितने ही अंग छोड़ दिए हैं, और आगे चलो तो पल्य, उसके बाद सागर, उसके बाद उत्सर्पिणी और उसके बाद कल्पकाल और कल्पकाल के बाद पुद्गल परिवर्तन और सबसे बड़ा भाव परिवर्तन। ये सब व्यवहारकाल में आये, पर कोई तो उपमा रूप हैं और कोई गिनती रूप हैं। ये सब काल के बहुत भेद हैं पर इस काल के पढ़ने से इसका फल क्या मिलता है? उस काल से मेरा कोई काम नहीं सधता, मेरा तो मेरे उपादान से काम सधता है। अन्य की दृष्टि से हमें क्या मिलेगा? क्षोभ। एक जो अपना निरुपम शुद्ध चैतन्यतत्त्व है उसको छोड़कर मेरा अन्य किसी से कोई प्रयोजन नहीं है।

गाथा 32

जीवादु पोग्गलादोऽणंतगुणा चावि संपदा समया।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो।।32।।

काल व कालपरिणमन—कालद्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर पृथक्-पृथक् एक-एक ठहरा है। तो उनकी योग्यता उतनी है जितनी कि लोकाकाश के प्रदेश हैं वे असंख्यात हैं और उन कालद्रव्य की परिणतियों का समय रूप कालपर्याय कितना है? तो जितने जीव हैं, जितने पुद्गल परमाणु हैं उनसे भी अनन्तगुण है समय। यह उमर इतनी तेज रफ्तार से व्यतीत हो जाती कि आज जिसकी जो उमर है वह यह सोचता है कि इतनी उमर कैसे जल्दी व्यतीत हो गयी? सब अपना-अपना देख लें। तो जैसे जल्दी व्यतीत हो गयी तो भविष्य की भी शीघ्र व्यतीत होने वाली है। पर चेत नहीं होता है।

ठठेरे के कबूतर—लोग उपमा दिया करते हैं, ठठेरे को कबूतर की। पीतल के ठुकने की आवाज सुनकर कबूतर भाग जाते हैं। किंतु ठठेरे के घर में रोज-रोज पीतल ठुकता रहता था। तो कबूतर रोज-रोज कैसे उड़े, उसकी भी आदत बन गयी सो वहीं रहने लगा। ऐसे ही हम लोगों की भी आदत बन गयी। धर्म किया, दर्शन किया, पूजा की, स्वाध्याय किया, करते जाते हैं और कल की अपेक्षा आज कुछ ज्ञान और विरक्ति का प्रकर्ष हुआ या नहीं हुआ, इसकी कोई परीक्षा नहीं है।

अभी यह बतलावो कि ये सब यहाँ बैठे हैं 8-10 साल के बच्चे भी यहाँ बैठे, जवान भी बैठे, वृद्ध लोग भी बैठे तो बड़ा इनमें कौन है? तो कुछ कहेंगे कि ये जो 50 वर्ष के हैं ये बड़े हैं और ये जो 10 वर्ष के हैं ये छोटे हैं। पर यह तो बतावो कि ज्यादा दिन किसे टिकना है? हालांकि कोई किसी को देख नहीं आया पर अंदाज तो रहती ही है। तो जो जितनी बड़ी उम्र के हो गए वे छोटे रह गए क्योंकि उन्हें थोड़े दिन जीना है।

सबसे बड़ी समस्या—यह काल इतना जल्दी व्यतीत हो रहा है और हम लोगों को सत्संग ऐसा नहीं अधिक मिलता अथवा स्वाध्याय, अध्ययन इनका प्रसंग बहुत अधिक नहीं मिलता अथवा मोहियों के बीच अधिक रहना पड़ता, इन सब बाह्य साधनों के प्रसाद से अन्तर में प्रकर्ष नहीं हो रहा है, लेकिन बड़ी गम्भीर समस्या है जिसके आगे सारी समस्या न कुछ है, आत्मदृष्टि ऐसी जमा लें कि जो ज्ञानानन्द स्वभाव में अनुराग बढ़ाए ऐसी बात के सामने अन्य सब समस्याए न कुछ हैं, अरे अगर ऐसा हो गया तो घर मिट गया तो क्या, सब न कुछ बात है। मिट गया तो मिट जाने दो, अभी नुकसान नहीं हुआ। अजी गांव, देश कुछ का कुछ हो गया तो उसमें भी अपना कुछ नुकसान नहीं हुआ। और आत्मा को अपने आपकी खबर ही न रहे, जीवन व्यतीत हो जाय तो यह है सबसे बड़ी समस्या। जिसका अपने आपसे सदा का सम्बन्ध है वह समस्या सबसे बड़ी है, पर वह बड़ी समस्या तो छोटी बराबर भी सामने नहीं रहती, अन्य-अन्य सब बातें प्रमुख स्थान पा लेती हैं और इसकी चर्चा भी नहीं रहती। पर विवेक कुछ बना है तो यह बात आनी चाहिए कि सबसे बड़ी समस्या हमारे सामने यह ही है कि मेरी दृष्टि अधिकाधिक इस ज्ञायक स्वभावी आत्मा के जानने में, अनुभवन में लगे। यह बात कैसे बने? इससे बढ़कर और कुछ बात नहीं है।

परिचित क्षेत्रबिन्दु का क्या मूल्य—भैया ! मान लो जान लिया किसी को हजारों आदमियों ने और कुछ अच्छा कह दिया तो ये तो सब गोरखधंधा है, फंसने की बातें हैं। कोई काम सिद्ध होने की बात नहीं हैं। क्या होता है? 343 घनराजू प्रमाण लोक के आगे यह 10-20 मील का चक्कर या 500 हजार मील का क्षेत्र ये क्या गिनती में रहते हैं? एक बड़े समुद्र के सामने एक बूद का तो फिर भी गणित में नम्बर आ जायेगा पर इस लोक के सामने हजार पाँच सौ मील का तो बिन्दु बराबर भी माप नहीं होता। इतने से क्षेत्र का मोह है और बाकी क्षेत्र इससे असंख्यात गुणे पड़े हैं। इनमें कोई मेरी प्रशंसा करने वाला नहीं है। तो जब इतनी बड़ी जगह में मेरा कोई प्रशंसक नहीं है तो जरा से क्षेत्र के प्रशंसकों से कौनसी सिद्धि हो गयी।

परिचितकाल बिन्दु का क्या मूल्य—समय काल कितना है? अनन्तकाल जिस काल के सामने ये 10, 20 वर्ष तो क्या, सागर भी गिनती नहीं रखता। खरबों, अरबों के वर्ष भी कोई गिनती नहीं रखते तो भला अपनी कल्पना के अनुसार यहाँ कुछ अच्छी करतूत कर जायें या कुछ बना जाए, नाम गढ़ जायें तो उससे कितनी आशा रखते हो कि कितने वर्ष तक उसका नाम चलेगा। अरे ज्यादा से ज्यादा 25-50 वर्ष तक नाम चलेगा,

उसके बाद में और भी वैसे ही लोग होंगे कि जीर्णोद्धार होगा, तो जिसका काम पहिले था उससे बढ़कर कोई हो गया तो उसका नाम उसकी जगह पर आ जायेगा तो कहां तक नाम बना रहेगा। अब कौन ख्याल करता है। इन सौ, दो सौ, चार सौ वर्षों के लिए अपना यश फैलाने से क्या फायदा है? अनन्ते काल के सामने यह इतना समय कुछ गिनती भी रखता है क्या? कुछ भी तो गिनती नहीं रखता है। तो फिर क्यों इतने समय की स्थितियों में मोह करके अपने को बरबाद किया जा रहा है?

परपरिणमन का स्व में अत्यन्ताभाव—वैज्ञानिक ढंग से भी देखो तो कोई कैसा भी परिणमें, उससे अपने को कुछ भी बात नहीं है। खुद का तो सब कुछ अपने ही परिणमन पर निर्भर है। सो समय काल के वर्णन में हम इतनी दृष्टि तो बना लें कि काल तो अनन्त पड़ा हुआ है। उसमें से ये सौ पचास वर्ष कुछ भी मूल्य नहीं रखते। इतने काल के लिए अपने भाव बिगाड़ें तो उसका संसार लम्बा होता चला जाता है और उस परम्परा से अनन्त काल दु:ख भोगने पड़ते हैं। सो जरासा गम खाना है कि सदा के लिए आराम मिलेगा। इस मनुष्यभव में ही कुछ गम खा लें, विषय कषायों का आकर्षण न रखें तो अनन्त काल शाश्वत सुख में व्यतीत हो सकेंगे। अनन्त भवों में एक मनुष्यभव ही विषय कषाय बिना रहे आए तो क्या बिगड़ा, बल्कि अनन्त काल फिर आनन्द में व्यतीत होगा। पर नहीं सोचते हैं। खूटा तोड़कर मोह में पगते हैं।

अपनी अपने पर जिम्मेदारी—भैया ! खुद के अपराध को कोई दूसरा न भोगेगा। प्रत्येक पदार्थ सत् है। स्वयं ही उसका परिणमन है। स्वयं ही जिम्मेदार है। यह व्यवस्था अवश्य है कि विभाव परिणमन जो होता है वह किसी पर का निमित्त करके होता है। पदार्थ का परिणमन स्वभाव होने के कारण समस्त परिणमन खुद ही चलते हैं और उनका फल भी खुद को भोगना पड़ता है। हाँ सब न मानें तो न सही, उसको मैं ही मान लू ऐसा सोचना चाहिए। सबकी ओर क्यों दृष्टि जाय कि सब तो लगे हैं वैभव जोड़ने में, धन की होड़ लगाने में। खुद की बात सोचो कि मैं तो लोक में सर्व से विविक्त केवल निज सत्ता मात्र हू। इसको कोई जानता भी नहीं, कोई इससे व्यवहार भी नहीं करता, यह तो सदा अकेला ही पड़ा हुआ है। मैं अपने में अपना काम करता हू, सब अपने में अपना काम करते हैं, फिर अपने ही हित की बात सोची जाय।

स्वयं की संभाल—कुआं नहीं छन सकता है। छानना तो अपना ही लोटा पड़ेगा। सबको जानो, सब बड़े अच्छे हो जायें, एक तो ऐसा हो नहीं सकता और हो भी गया और खुद जैसे के तैसे ही रहे तो उसमें खुद का क्या हुआ? कोई बूढ़े बाबा बाजार में साग भाजी खरीदने जाए और वहीं पड़ौस की दस बीस बहुवें आ जायें और कहें कि बाबा दो आने की सब्जी हमें ला दो, कोई कहे हमें चार आने की ला दो। तो बाबा बाजार में जाकर सबकी सब्जी तो ले लें और बाद में जो दो आने की खराब सब्जी बची सो खुद ले लें और फिर घर में आकर वह यह कहे कि हम बड़े परोपकारी हैं, पहिले गांव की बहुवों की अच्छी-अच्छी सब्जी ले दिया और बाद में जो बची उसे अपने लिए खरीद लिया, हम बड़े दयालु हैं। ऐसा यदि वह बूढ़ा बाबा कहे तो घर की बहू तो रूठ जायेगी ना। अरे पहिले अपने लिए खरीद लेते बाद में पड़ौस की बहुवों के लिए खरीद लेते। तो पहिले खुद की संभाल कर लीजिए।

निगोद के कार्यक्रमों का अभ्यास—दूसरे की संभाल करने में आप समर्थ नहीं हो सकते हैं। खुद की दृष्टि न संभाले तो वह दूसरों का भला करने में भी समर्थ नहीं हो सकता है। सुधरो अथवा न सुधरो, खुद की बात

तो सोचो, यहाँ से मर कर कहां पैदा होंगे? फिर किसी से क्या रहा सम्बन्ध? इतना तीव्र व्यामोह है कि दूसरे के सुख में सुखी और दूसरे के दु:ख में दु:खी। दूसरे सांस लें तो अपन भी सांस लें, दूसरे की दम घुटे तो खुद की दम घुटे। इतना तेज मोह है। सो शायद ऐसी बात होगी कि अगले भव में निगोद जाना है सो वहाँ ऐसा करना पड़ेगा सो उसका अभ्यास यहाँ किया जा रहा है। हम एक के जन्मते जन जायें, एक के मरते मर जायें, ऐसा करना पड़ेगा। इसका ऐक्सरसाइज है यह सो सीख लें। दूसरे के दु:ख में दु:खी हों, दूसरे सांस लें तब सांस लें, तो हम निगोद की बात सीख रहे हैं। क्या सिद्धि है?

परिजनसंग व धर्मप्रगति—भैया ! यहाँ यदि सम्बन्ध हुआ है, परिवार है, कुटुम्ब है तो उस सम्बन्ध को धर्म के लिए समझो, मौज और भोग के लिए न समझो। धर्म के रूप में व्यवहार हो और परस्पर धर्मप्रगति का उत्साह हो तो उस संग से कुछ लाभ भी मिलेगा अन्यथा केवल मोह भोग मौज के लिए ही सम्बन्ध है तो वहाँ एक दूसरे के बिगाड़ की होड़ हो रही है, और दूसरी कोई बात नहीं है।

यह काल जो व्यतीत हो रहा है इसका स्रोत; साधन है निश्चय काल द्रव्य। अब जरा सर्वांगीण दृष्टि से विचार करो कि यदि यह काल द्रव्य न होता तो यह काल समय कहां होता और समय न होता तो पदार्थ का परिणमन कैसे होता और पदार्थ का परिणमन न होता तो द्रव्य भी न कहलाता। जब द्रव्य भी न रहा, परिणमन भी न रहा तो कुछ भी न रहा। पर ऐसा है कहां? हम तो कहते हैं कि हम कुछ न हों तो बड़ी अच्छी बात है। हम सिफर बन जायें अच्छी बात है पर बन कैसे जायें? सत यदि प्रवर्तते हैं तो परिणमेंगे। अब तो इसी में भलाई है कि ऐसा परिणाम बनाए कि हमारे भाव अनाकुलतापूर्ण हों।

कालपरिज्ञान का सदुपयोग—कालद्रव्य वर्तना का कारण है। कुम्हार के चक्र की जैसे वह कील एक आधार है, सारा चक्र उसी के सहारे घूम रहा है। यों ही यह कालद्रव्य एक निमित्तभूत आधार है और सर्व ओर परिणमन हो रहा है? यदि कालद्रव्य न होता तो 5 अस्तिकायों का फिर परिणमन कहां से होता। तो यह काल का वर्णन जानकर काल पर दृष्टि नहीं देना, किन्तु समझ लेना है कि अब इन क्षणों को यों ही अनाप-सनाप नहीं व्यतीत करना है किन्तु ऐसी आत्मदृष्टि जगे कि हमें अपना कल्याण करना है। यह बात अपने में घर कर जाय और ऐसी लगन लग जाय कि मोह में सार नहीं है किन्तु शुद्ध जो निज सहज ज्ञायकस्वरूप है उसकी दृष्टि में ही लाभ है, उसी का ही हमें यत्न करना है।

प्रतीतिसिद्ध व युक्तिसिद्ध पदार्थ—द्रव्य की जातियां सब 6 हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन 6 द्रव्यों में से जीव और पुद्गल ये दो प्रकार के द्रव्य तो प्रतीति में आते हैं। इसकी समझ अधिक बैठती है। जीव के सम्बन्ध में तो बहुत परिचय है। चाहे उसका सहज स्वरूप न जान पायें पर जीव के सम्बन्ध में साधारणतया सबको कुछ न कुछ ज्ञान है। बता दोगे देखते ही कि इसमें जीव है, इसमें जीव नहीं है। जीव द्रव्य का प्रत्यय लोगों को अधिक है और पुद्गलद्रव्य की भी प्रतीति अधिक हैं। ये सब आंखों से जो कुछ दिखते हैं ये स्कंध पुद्गल ही तो हैं, पर शेष चारों द्रव्य सूक्ष्म हैं जो प्रतीति में नहीं आ पाते, युक्तियों से जानने में आते हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश व काल का परिचय—जैसे मछलियों को चलने में जल सहकारी कारण है, वह एक विशेष बात है, पर जीव पुद्गल को चलाने में कोई चीज सहकारी कारण है तो उस वस्तु का नाम है

धर्मद्रव्य। और जब धर्मद्रव्य आदिक जो गमन का हेतु है तो गमन करके जो स्थित हो, ठहरता हो तो जितने नवीन कार्य होते हैं उनका कोई निमित्त कारण होता है तो धर्मद्रव्य का प्रतिपक्षी कोई कारण होना चाहिए। वह है अधर्मद्रव्य। आकाश की बात भी बहुत कुछ समझ में आ रही है। जहा चलते हैं यही तो आकाश है। कहते भी हैं लोग कि पक्षी आकाश में उड़ते हैं, हवाई जहाज आकाश में चलता है। आकाश बहुत प्रतीति में आ रहा है पर सूक्ष्म होने से पुद्गल की भांति विशेष स्पष्ट नहीं हो पाता, पर हाँ वह आकाश है। कालद्रव्य व्यवहार काल के द्वार से यह भी युक्ति में आता है मिनट, घड़ी, घंटा, दिन, महीना यह समय गुजरता है ना। तो यह समय जो गुजर रहा है यह समय नामक परिणमन किसी द्रव्य का ही तो होना चाहिए जो भी परिणमन है उसका आधारभूत कोई द्रव्य ही होता है। तो समय परिणमन का आधारभूत कालद्रव्य है। यों 6 पदार्थ यहा बताये जा रहे हैं। उनमें अंतिम जो कालद्रव्य है उसका स्वरूप चल रहा है। अब उसही काल के संबन्ध में कुछ और वर्णन कर रहे हैं।

गाथा 33

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो।
धम्मादिचउण्हं णं सहावगुणपज्जया होंति।।33।।

कालपदार्थ व उसका उपग्रह—जीवादिक समस्त द्रव्यों के परिवर्तन का जो कारण है वह काल पदार्थ है। कालपदार्थ पदार्थ के परिणमन का हेतुभूत है और काल के परिणमन में काल ही हेतुभूत है। कालद्रव्य भी तो परिणमन करता है। कालद्रव्य का परिणमन है समय। जिन समयों के समूह का नाम है सेकेण्ड, मिनट आदिक तो समय नामक जो कालद्रव्य का परिणमन होता है उसका निमित्त क्या है? उपादान तो कालद्रव्य ही है और निमित्त भी कालद्रव्य है। खुद ही निमित्त और खुद ही उपादान हुआ। अन्य कोई पदार्थ निमित्त नहीं होता ऐसा पदार्थ है तो वह कालद्रव्य है। धर्म, अधर्म, आकाश इनका भी परिणमन चलता है। इनके परिणमनों का निमित्त है कालद्रव्य। उपादान वह स्वयं ही है। जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन 5 द्रव्यों की पर्यायों के परिणमन का कारण हो जिसका परिवर्तन चिन्ह है उसे कालद्रव्य कहते हैं। कालद्रव्य पंच अस्तिकायों के परिणमन का निमित्तभूत है। काल अस्तिकाय नहीं है क्योंकि वह एकप्रदेशी है। वह 5 अस्तिकायों के परिणमन का हेतु है और परिणमन का हेतु दूसरे का है और स्वयं का भी है।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य व कालद्रव्य की शाश्वत अबन्धता—अब इन 6 द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनका अन्य द्रव्यों के साथ सम्पर्क नहीं होता। न सजातीय पदार्थ का संबंध है और न विजातीय पदार्थ का सम्बन्ध है, किन्तु जिस जीव के सम्बन्ध के प्रसंग में जो नर नरकादिक पर्यायें बनती हैं उनमें विजातीय बंध है, तथा पुद्गलों में सजातीय बन्ध है। ऐसा बंध इन चार द्रव्यों में नहीं है क्योंकि धर्म धर्म के साथ कैसे मिलेगा? धर्मद्रव्य तो एक ही है। अधर्मद्रव्य भी एक ही है, आकाशद्रव्य भी एक ही है, रहा शेष कालद्रव्य सो वह हैं यद्यपि असंख्यात लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु ठहरा है लेकिन वह तो स्थिर है जो कालाणु जिस प्रदेश पर है वह उस ही जगह रहता है, हेर-फेर नहीं होता। कालाणुओं में

स्थान परिवर्तन नहीं चलता। जहा जो कालाणु है वहाँ ही वह कालाणु स्थित है। फिर एक कालद्रव्य के साथ दूसरे कालद्रव्य का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

स्वभावगुणपर्याय—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य इन चार द्रव्यों में न तो सजातीय बंध है और न विजातीय बंध है। इस कारण इन चार द्रव्यों के विभाव गुणपर्याय होते ही नहीं हैं। धर्मद्रव्य में स्वभावगुणपर्याय है। अधर्म, आकाश और काल में द्रव्य में भी स्वभावगुणपर्याय है। विभावगुणपर्याय इसमें नहीं होती है। गुणपर्याय का अर्थ है कि पदार्थ में जो गुण है, शाश्वत शक्ति हे उसका जो परिणमन है उसे गुणपर्याय कहते हैं। इन 6 द्रव्यों में चार द्रव्यों को छोड़कर शेष के जो दो बचे हैं जीव और पुद्गल, इनमें स्वभावगुणपर्याय भी होता है और विभावगुणपर्याय भी होता है। जीव में स्वभावगुणपर्याय है वह जो भगवान में पायी जाती है।

जीव के स्वभावगुण पर्याय—ज्ञान का स्वभावगुण पर्याय केवलज्ञान है, दर्शन का स्वभावगुण पर्याय केवलदर्शन है, आनन्द का स्वभावगुणपर्याय आनन्द है। चारित्रगुण का स्वभाव गुण पर्याय शाश्वत आत्मस्थिरता है। ये तो हैं सब स्वभाव गुण पर्यायें और संसारी जीवों में विभाव गुणपर्यायें मिलती हैं। ज्ञानशक्ति की विभाव गुण पर्याय है। केवलज्ञान को छोड़कर शेष के 7 ज्ञान, दर्शन गुण के विभाव पर्याय हैं—केवल दर्शन को छोड़कर शेष के सब दर्शन। आनन्द गुण के विभाव परिणमन हैं सुख और दु:ख। जो परिणमन पर-उपाधि का निमित्त पाकर हो उसे विभावपरिणमन कहते हैं। खुद वही पदार्थ खुद में विभाव का कारण नहीं बनता है।

विभावगुणपर्यायत्व का कारण औपाधिकता—यद्यपि विभाव उस ही खुद के द्रव्य में उत्पन्न होता है जो कि उपादानभूत है, पर निमित्तभूत वही पदार्थ नहीं है। यदि वही एक पदार्थ विभाव का जैसा उपादान है, निमित्त भी बन जाय तो वह निमित्तभूत पदार्थ तो शाश्वत है फिर सदा ही विभाव रहना चाहिए। विभाव परपदार्थ का निमित्त पाकर उत्पन्न होता है और इसी कारण वह विभाव कहलाता है। आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थों का निमित्त पाकर जो भी परिणमन होगा वह स्वभाव से विपरीत परिणमन होगा, स्वभाव परिणमन नहीं। इस जीव के साथ कर्म लगे हैं, और वे ही इस जीव के विभावगुण परिणमन के निमित्त होते हैं। अन्य जो इन्द्रिय के विषय हैं ये जीव के विभाव गुण परिणमन में निमित्त नहीं होते। कर्मों का उदय हो तो उसका फल मिले। इसमें भी आश्रयभूत नोकर्म का सम्बन्ध हो तो फल मिलता है। जैसा कर्मोदय है और कुछ नोकर्म है उस नोकर्म का सन्निधान होने पर कर्मोदय फलवान् होता है।

बाह्य साधनों का स्थान—भैया ! कदाचित् ऐसा भी हो जाता कि नोकर्म न हो तो कर्मोदय निष्फल हो जाता है, और इस दृष्टि से चरणानुयोग की पद्धति अधिक ग्राह्य हो गयी है। अब त्याग करो नोकर्म का। विषय कषायों के आश्रयभूत पदार्थों का त्याग करो तो बहुत कुछ यह सम्भव है कि नोकर्म न मिलने से वे कर्म निष्फल खिर जायें। ठीक है फिर भी बहुत बड़ी आपत्ति यह लगी है कि कर्मोदय जब होता है तो जो भी सहज मिल गया उसी का आश्रय बनाकर उस विपाक में वह जाता है। जैसे किसी को गुस्से की आदत पड़ी है तो दूसरा आत्मा वो साथ हो उसका आश्रय करके गुस्से करेगा। कोई यह सोचे कि अमुक व्यक्ति के होने से गुस्सा आता है, इस व्यक्ति को न रहना चाहिए तो चाहे वह व्यक्ति न रहे तो भी जो कुछ भी मिलेगा, उसका आश्रय करके वह गुस्सा करने लगेगा। और कभी यह स्थिति आ जाय कि कोई संग भी न मिले तो

खुद की ही अनेक घटनाए ऐसी चलती रहती हैं, थोड़ा हाथ, पैर या सिर में कुछ लग गया, लो घटना बन गयी, उसी का आश्रय करके गुस्सा बन जायेगा।

विभाव्य उपादान को निमित्तों की सुलभता—भैया ! ऐसे बहुत कम स्थल होते है कि नोकर्म के अभाव में कर्म निष्फल जायें। क्योंकि यह जगत नोकर्म से भरा हुआ है। जैसे किसी को घमंड करने की प्रकृति बनी है और उस घमंड का पोषण घर में नहीं हो पाता, परिवार के लोग उसे मान नहीं देते हैं। तो गुस्सा में आकर घर छोड़ देगा। और कहीं न कहीं तो जायेगा ही। सो जहा जायेगा, जिस गोष्ठी में वह होगा उसमें ही परजीवों को लक्ष्य में लेकर अब घमंड पोषण की मन में लायेगा तो जब उदय और योग्यता अनुकूल चलती है तो जगत तो नोकर्मों से भरा हुआ है। जिस चाहे पदार्थ का आश्रय करके यह अपने कषायों को उगलेगा। फिर भी चरणानुयोगी की पद्धति से नोकर्म का त्याग करने वाला ज्ञानी पुरुष बहुत कुछ अपनी रक्षा कर लेता है और फरक पड़ता ही है। जब अधिक संकल्प विकल्प करने का वातावरण नहीं रहता है तो निर्विकल्प समाधि की पात्रता उसमें विशेषतया प्रकट हो ही जाती है। आत्मा में जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, श्रद्धा, गुण हैं ये उपाधि के सन्निधान में चूकि हमारी योग्यता भी विकाररूप परिणमने की है सो विकाररूप परिणम जाता है, वे सब है विभावगुण पर्यायें।

सहज स्वरूप के संभाल की आवश्यकता—जब यह जीव अपने आपके सहज स्वरूप की संभाल कर ले तो ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि के बल से ऐसा योग्य बनता है यह जीव कि वहाँ विभावपरिणमन शांत होता है और स्वभावपरिणमन की तैयारियाँ होने लगती हैं। जब यह जीव सर्वथा शुद्ध हो जाता है तो उसमे व्यक्त स्वभावगुण पर्याय प्रकट हो जाती है। यह तो प्रयोग सिद्ध बात है और जो चाहे कर सकता है कि जब परपदार्थ की ओर अपनी दृष्टि रखता है, आकर्षण करता है तब तो इसे आकुलता उत्पन्न होती है और जब परपदार्थ का निरोध रहता है तब चूकि केवल यह स्व ही ज्ञान में रहता है अत: इसमें आकुलता का स्थान नहीं मिलता। आनन्द चाहिए, शांति चाहिए तो एकमात्र यही उपाय है अपने सहजस्वरूप का ज्ञान करना। सहजस्वरूप रूप मैं हू, ऐसी प्रतीति करना और इस स्वरूप में ही स्थिर होना, मग्न होना, यही आनन्द पाने का एकमात्र उपाय है।

आत्मप्रयोग—यहाँ कुछ पीछे की बात तो नहीं कही जा रही है। तीनों लोकों में कहां-कहां कैसी-कैसी रचना है? इसकी बात नहीं कही जा रही है अथवा बहुत काल पहिले क्या हुआ था, उस इतिहास की बात नहीं कही जा रही है, किन्तु यहाँ तो ऐसी बात स्पष्ट है जैसे चक्कू पर धार लगाने वाले धार लगाते जाते और धार को देखते जाते, आजमाते जाते यों ही अपने आपमें जो गुण हैं, शक्ति है उसकी धार बनाता जाय, परिणति करता जाय, धार देखता जाय धार को आजमाता जाय। यह कहीं अन्य जगह की बात नहीं कही जा रही है, खुद की बात है। थोड़ा पर का आकर्षण छोड़ो, किसी पर में रखा कुछ नहीं है, वे मेरे लिए कुछ शरण नहीं हैं। यहाँ का यह कषायानुकूल व्यवहार है, फिर वस्तुत: सब आत्मा जुदे-जुदे हैं। तो जरा ऐसा जानकर मोह में अन्तर कर, पर का आकर्षण न बना, तो अपनी यह बात समझ में जल्दी आ जायेगी।

अपनी बात—यह आत्मा ज्ञानमय ही तो है। स्वयं ज्ञानमय है और ज्ञान द्वारा यही ज्ञान में न आए यह कैसे हो सकता है? परपदार्थों की ओर बहुत दूर तक देखते हैं। जैसे बहुत दूर की चीज भी देखने में अपनी निगाह

लगाई हो, तो न खुद ही देखने में आता है और निकट की भी चीज देखने में नहीं आती। ऐसे ही उपयोग द्वारा बहुत दूर की बात अत्यन्त भिन्न पदार्थ की बात हम देखने में लगे हों तो वहाँ न हम दिख सकते हैं और न हमारे निकटवर्ती विभावादिक करतूत कर्म दिखने में आ सकते हैं। मोह भाव कम होने पर आकर्षण नहीं होता। और ऐसी स्थिति में अपनी बात की समझ बैठ सकती है अन्यथा अपनी बात समझमें नहीं आ सकती।

निकटीय वातावरण के विज्ञान की आवश्यकता—इस ग्रन्थ में इस प्रकरण तक 6 द्रव्यों की विशद व्याख्या चल रही है और यह सब सम्यग्ज्ञान हमारे आत्महित के साधन में साधक बन रहा है। अपने निकट का समस्त वातावरण यदि अच्छी तरह से विदित हो तो वह पुरुष सावधान विवेकी, स्वच्छ, साफ बना रहता है। और जिसे अपने निकट का वातावरण भी न मालूम हो वह तो अंधेरे में है, धोखे में है, विनाश के सम्मुख है। तो हमारे निकट का यह सब वातावरण है। छहों द्रव्य वाली बात हमारे ही निकट का वातावरण है, पुद्गल में तो निकटता है ही। शरीर से लगा है। कर्मों का बंधन है, सूक्ष्म शरीर भी इसका साथ नहीं छोड़ते हैं जब तक मोक्ष नहीं होता। ऐसा निकट वातावरण है, उसके बारे में हमें सही बात न मालूम पड़े तो हम कहां सावधान रह सकते हैं, विवेकी रह सकते हैं और प्रगतिशील कहां से हो सकते है? इस कारण इन सबका जानना आवश्यक है।

काल का निकट सम्बन्ध—धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये भी हमारे अनुभव में नहीं समा पाते हैं फिर भी हैं तो हमारे निकट के ही वातावरण। कालद्रव्य के परिणमनरूप समय के गुजरने का निमित्त पाकर हम परिणमा करते हैं। कोई बालक 8 वर्ष का है। साल भर बाद जो उसकी परिस्थिति बन सकती है, साल व्यतीत न हो तो कहां बन जायेगी? ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता है त्यों-त्यों यह परिणमन बनता रहता है। तो कालद्रव्य से भी हमारे सम्बन्ध की निकटता है।

आकाश का निकट सम्बन्ध—आकाश जिसमें हम बैठे ही हैं उसकी भी निकटता है और धर्म, अधर्म इसमें भी निकटता है। हम चलते हैं, ठहरते हैं, सो ठहरते तो हैं, किन्तु है इन सबमें हमारा अत्यन्ताभाव। इनसे मुझमें कुछ आता नहीं। यदि स्वरूपदृष्टि से निरखो तो कोई एक प्रश्न का उत्तर चाहेगा कि बतावो तुम कहां रहते हो? तो उसका उत्तर होगा कि हम अपने प्रदेशों में रहते हैं। आकाश में नहीं रहते हैं। आकाश में आकाश है और हममें हम हैं। भले ही अनादि काल से यह बात बनी हुई है कि हम आकाश को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहते, न रहेंगे, इतने पर भी जैसे आकाशद्रव्य अपने घर का बादशाह है, पूर्ण है, उस आकाश का सब कुछ उस आकाश में ही है, इस प्रकार हम भी अपने घर के राजा हैं, अपने ही में पूर्ण हैं और अपने में ही परिणमते हैं। जब इस आकाशद्रव्य से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा, भिन्नता बनी है तो हम आकाश में कहां है, हम तो अपने आपमें हैं। स्वरूपदृष्टि से इस भांति देखा जाता है।

इन सब पदार्थों का विवरण अत्यन्त रम्य है, भव्य जीवों को सुनकर अमृत समान संतोष देने वाला है। जो पुरुष प्रमुदित चित्त होकर इस सब ज्ञान को जानता है उसका यह सब परिज्ञान संसारसंकटों से मुक्ति पाने के लिए कारण होता है।

गाथा 34

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकायत्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु वहुप्पदेसत्तं।।34।।

पाँच द्रव्यों के अस्तिकायपना—ये 6 द्रव्य हैं। इनमें काल को छोड़कर शेष के 5 द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। जो बहुप्रदेशी होते हैं उन्हें अस्तिकाय कहते हैं। अस्तिकाय शब्द में दो शब्द हैं—अस्ति और काय अर्थात् है और बहुप्रदेशी है। उनका सद्भाव है इसका द्योतक तो है अस्ति, और वह बहुप्रदेशी है इसका वाचक है काय। कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है क्योंकि कालद्रव्य एकप्रदेशी है, दो प्रदेशी भी नहीं है। और इससे ऊपर कोई भी बहुप्रदेशी नहीं है। समय नामक द्रव्य अप्रदेशी होता हैं ऐसा आगम में कहा है। अप्रदेशी का अर्थ प्रदेशरहित नहीं लेना, किन्तु बहुप्रदेशी नहीं है मात्र एकप्रदेशी है यह समझना। जैसे अनुदर कन्या कहते हैं उसे जिसका पेट चिपटा हो, बहुत पतला हो तो कहते है कि इसके पेट ही नहीं है। अरे यदि पेट नहीं है तो खड़ा कैसे होगी? पर इसके मोटा पेट नहीं है, ऐसे ही अप्रदेशी कहे तो इसका अर्थ यह नहीं लेना कि उसमें प्रदेश नहीं हैं, किन्तु बहुप्रदेश नहीं हैं। काल तो केवल द्रव्यस्वरूप है और काल के अतिरिक्त अन्य 5 द्रव्य अस्तिकाय भी हैं।

काय शब्द का अर्थ—काय शब्द का अर्थ है संचीयते इति काय:। जो संचित किया जाय उसे काय कहते हैं। जिसमें बहुत से प्रदेश प्रचय हों, उसे अस्तिकाय कहते हैं अथवा काय मायने शरीर। जैसे शरीर बहुप्रदेशी होता है उसी तरह जो बहुप्रदेशी हो उसे काय कहते हैं। अंग्रेजी में तो काय को बौडी बोलते हैं। तो चाहे जीव की बौडी हो, चाहे अजीव का कोई पिण्ड हो उसका भी नाम बौडी है। शरीर को भी काय कहते हैं, और जो शरीर नहीं है किन्तु बहुप्रदेशी है, संचयात्मक है उसे भी काय कहते हैं। बौडी का ठीक पर्याय काय हो सकता है, शरीर नहीं हो सकता है। तो जो काय की तरह हो उसे काय कहते हैं। अस्तिकाय 5 होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। इनमें अस्ति नाम सत्ता का है और काय नाम बहुप्रदेशपने का है।

सत्ता और सत्ता की सप्रतिपक्षता—सर्वप्रथम सत्ता का अर्थ किया जा रहा है। सत्ता कैसी होती है? सप्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी भाव सहित। कोई चीज सत् है तो वही चीज असत् भी है। किसी प्रकार यदि मनुष्य सत् है तो मनुष्यत्व की अपेक्षा और मनुष्यत्व के सिवाय बाकी पशु पक्षी आदि जितने अन्य जीव हैं उन सबकी अपेक्षा से असत् है। जैसे स्याद्वाद में कहते हैं स्याद् अस्ति स्याद् नास्ति। स्वरूपेण सत्, पर रूपेण असत्। अच्छा जरा और अन्तर की बात देखो, भिन्न-भिन्न वस्तुओं से बनाया गया स्याद्वाद तो अच्छा नहीं लगा, क्योंकि एक ही वस्तु में सत् और असत् नहीं बताये। एक वस्तु का सत् उस वस्तु का है तो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा असत् है ऐसा बताया है। जिज्ञासु कहता है कि मुझे तो ऐसा स्याद्वाद बतावो कि उसी पदार्थ में सत् भी पड़ा हो और उसी पदार्थ की अपेक्षा वही पदार्थ असत् हो जाता हो। जैसे नित्य और अनित्य, ये हमें ठीक जंच रहे हैं। जीव नित्य है तो जीव की ही अपेक्षा नित्य है और जीव अनित्य है तो उसही जीव की अपेक्षा अनित्य है। उसही एक जीव के जो द्रव्यत्व है उसकी दृष्टि से तो वह नित्य है और

जो पर्यायत्व है उस ही जीव में उसकी दृष्टि से अनित्य है। तो यह तो स्याद्वाद हमें भा गया कि देखो दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं लगायी गयी पर सत् असत् में तो पर की अपेक्षा लेकर तुम बोलते हो। जीव जीवरूप से सत् है और जीव अजीवरूप से असत् है। हमें तो नित्य अनित्य एक अनेक की तरह एक ही पदार्थ की अपेक्षा से सत् बतावो और उसही पदार्थ की अपेक्षा से असत् बतावो तो हो सकता है क्या ऐसा? हो सकता है। कैसे हो सकता है, इसको दो तीन मिनट बाद में बतायेंगे।

सत्ता की सप्रतिपक्षता की द्वितीय दृष्टि—भैया ! पहिले ऐसा जानो कि सत्ता प्रतिपक्षसहित है, अर्थात् सत्ता दो प्रकार की है महासत्ता और आवान्तर सत्ता। महासत्ता तो वह है जो सब पदार्थों में सामान्य सत्त्व पाया जाता है और एक-एक पदार्थ की जो सत्ता है वह है आवान्तर सत्ता महासत्ता की अपेक्षा से आवांतर सत्ता असत्ता है और आवांतर सत्ता की अपेक्षा से महासत्ता असत् है। यह भी कुछ भिन्न-भिन्न बात कही जा रही है। इसमें इतना तो आया कि महासत्ता में सब आ गये। उसमें ही आवांतर सत्ता का एक रूप ले लिया है। और पहिले जो बताया था, जिसकी जिज्ञासा में आपको कहा गया है कि 2-3 मिनट में बतावेंगे यह तो इससे भी और दूर की बात थी। जीव जीव की अपेक्षा सत् है तो असत् में जीव को छुवा ही नहीं गया। अजीव की अपेक्षा असत् है और इस महासत्ता व आवांतर सत्ता में कम से कम इतनी बात तो आयी कि महासत्ता में सबका ग्रहण है। उसमें आवांतर सत्ता भी पड़ी है। जिस किसी वस्तु की सत्ता निरख रहे हैं वह हमारे सबके समानाधिकार में पड़ी हुई है। लेकिन जिज्ञासु कहता है कि मुझे इस कथन में भी संतोष नहीं हो रहा है। हमें तो एक ही ऐसा पदार्थ बतावो कि उस पदार्थ की अपेक्षा से यह सत् है और इस ही पदार्थ की अपेक्षा से यह असत् है। दूसरी बात सुनकर जिज्ञासु उस बात को अपने अन्तर की बात को भूल नहीं रहा हैं। हमें तो एक ही पदार्थ बतावो कि उस ही पदार्थ की अपेक्षा सत् हो और उस ही पदार्थ की अपेक्षा असत् हो। अच्छा, तो चलो अब।

सत्ता की सप्रतिपक्षता की तृतीय दृष्टि—देखो भैया ! पदार्थ गुणपर्यायात्मक है। उस पदार्थ को हम कभी 'गुण समुदायो द्रव्यम्' इस रूप से भी देख सकते हैं और उसही पदार्थ को 'पर्याय समुदायो द्रव्यम्' इस रूप से भी देख सकते हैं। जब हमने गुण रूप से उसका सत्त्व देखा तो पर्याय रूप से समझमें आने वाला सत्त्व वह नहीं है। तब जो गुणात्मकता के रूप में सत् है वही पदार्थ पर्यायात्मकता के रूप में असत् है और जब उसे पर्यायात्मकता के रूप में निरखा तो पर्यायात्मकता की निगाह से तो सत् है किन्तु गुणात्मकता की दृष्टि से असत् है। गुणात्मकता महासत्ता है और पर्यायात्मकता आवान्तर सत्ता है, क्योंकि गुण व्यापक है। और पर्याय व्याप्य है। यहाँ इस सप्रतिपक्षपन को इन दोनों पद्धतियों में निरखते जाइये। एक तो एक ही पदार्थ में सप्रतिपक्षपना देखें और सत् और असत् की अपेक्षा वह पदार्थ है और वह नहीं, किन्तु उससे भिन्न अनेक समस्त पदार्थ उनकी अपेक्षा से नहीं, यों सप्रतिपक्षपना दिखा।

आवान्तर सत् में अर्थक्रियाकारित्व—उनमें से प्रथम भिन्न-भिन्न उपदेश की पद्धतियों से सप्रतिपक्षपना दिखाया था, महासत्ता और आवान्तर सत्ता समस्त पदार्थों में विस्तार से व्यापने वाले सत् को महासत् कहते हैं और प्रतिनियत जिस किसी पर लक्ष्य हो उस वस्तु में रहने वाले सत् को आवान्तर सत् कहते हैं। यों समझ लीजिये कि महासत्ता तो बोलने और समझने की बात है और आवान्तरसत्ता काम करने की बात है।

जैसे गौ जाति और गौ पशु। गौ जाति तो बोलने और समझने की बात है और गौ पशु, उससे दूध निकलता है, सो व्यवहार करने की बात है। गौ जाति में दूध न निकलेगा। दूध निकलेगा किसी प्रतिनियत गौ से। किसी को दूध चाहिये तो कहे जावो उस गांव में हजारों गायें हैं, उन सब गायों में एक गोत्व सामान्य है, तुम तो सारे गांव के मालिक हो जावो, तुम गौ जाति से दूध निकाल लावो तो गौ जाति से उसे दूध न मिलेगा। दूध दुहने जायेगा तो किसी प्रतिनियत गौ के पास जायेगा। इस ही प्रकार महासत् एक स्वरूप सादृश्य समझने की बात है। यहाँ अर्थक्रिया न होगी, अर्थक्रिया तो प्रतिनियत वस्तु में होगी, आवान्तर सत् में होगी तो यह सत् महासत् रूप में है तो उसका प्रतिपक्ष है आवान्तर सत् और आवान्तर सत् रूप में प्रस्तुत करे तो उसका प्रतिपक्षी है महासत्। तो यह महासत् सर्वपदार्थों में व्यापता है और आवान्तर सत् प्रतिनियत वस्तु में व्यापता है।

गुणमुखेन सत्ता की सप्रतिपक्षता—महासत् समस्त व्यापक रूप में व्यापता है और आवान्तर सत् प्रतिनियत रूप से व्यापता है। पहिले द्रव्यदृष्टि करके प्रतिपक्षता को बताया था, अब यह गुणदृष्टि करके सप्रतिपक्षता कही जा रही है। समस्त व्यापकरूप सबमें व्यापने वाला जो सत् है वह महासत् है और प्रतिनियत एक शक्ति में गुण में व्यापने वाले सत् को आवान्तर सत् कहते हैं। वही पदार्थ सर्वगुणप्रचयाभेदात्मकता से जो सत् मिला वह प्रतिनियत एक गुणमुख से देखा गया सत् रूप नहीं है और जो प्रतिनियत एक गुणमुख से देखने पर जो सत् विदित हुआ वह सर्वगुणप्रचयाभेदात्मकता से देखा गया सत् रूप नहीं है। यों द्वितीय पीढ़ी पर महासत्ता व आवान्तर सत्ता की पद्धति कही।

पर्यायमुखेन सत्ता की सप्रतिपक्षता—इस ही पद्धति में तीसरी पीढ़ी पर कहा जा रहा है कि जो अनन्त पर्यायों में व्यापे वह है महासत्। और प्रतिनियत एक पर्याय में व्यापे वह है आवान्तर सत्। द्रव्य, गुण, पर्याय इन तीन रूपों में पदार्थ का परिज्ञान किया जाता है। सो इन तीनों ही पद्धतियों में महासत् और आवान्तर सत् परस्पर प्रतिपक्ष हैं, यह कथन किया गया है।

द्रव्य व गुणरूप से सत्ता की सप्रतिपक्षता का उपसंहार—अब पुनः अभिन्न पदार्थ को एक ही पदार्थ में महासत् और आवांतर सत् निरखिये। एक पदार्थ जितना है वह समग्र है। अनन्तगुणात्मक अनन्तपर्यायात्मक उस समग्र वस्तु में विस्तृत रूप से व्यापने वाला महासत् है और उस प्रतिनियत वस्तु के उन समग्र विस्तारों में से जब कभी एक धर्म की मुख्यता से देखा जाय तो उस समय वह आवांतर सत् हो गया जो उस व्यापने वाले महासत् में से व्याप्य सत् है। तो एक ही पदाथ्र में यह महासत् और आवांतर सत् सप्रतिपक्ष है। अब उसही एक पदार्थ में समग्र गुणों में व्यापकर रहने वाला सत् महासत् है। तो जब हम उस पदार्थ को किसी एक गुण की मुख्यता से परिचय करने जाते हैं तो वह आवांतर सत् हो जाता है। व्यवहार जितना चलता है वह आवांतर सत् से चलता है। समग्र गुणों को हम एक साथ बता दें, ऐसी कोई वचन पद्धति नहीं है। किसी गुण की मुख्यता से हम उस पूर्ण वस्तु को समझने और समझाने का यत्न किया करते हैं तो गुणरूप से एक ही पदार्थ में यह महासत् और आवांतर सत् विदित होता है।

पर्यायमुखेन सत्ता की सप्रतिपक्षता के विवरण का उपसंहार—एक ही पदार्थ में एक ही समय में अनन्तपर्यायें हैं और भिन्न-भिन्न समयों में भी अनन्त पर्यायें हैं। एक समय में तो यों अनंत पर्यायें हैं कि प्रत्येक पदार्थ

अनन्तगुणात्मक होता है और जितने गुण होते हैं वे सब सदा कर्मठ रहते हैं। कोई गुण बेकार नहीं रह पाता। वह किसी न किसी परिणमन के रूप में व्यक्त हुआ करता है। जैसे आत्मा में श्रद्धा, दर्शन, ज्ञान चारित्र, आनन्द आदि अनेक गुण हैं तो ऐसे ही उन सबके परिणमन भी एक साथ हैं। एक ही काल में ज्ञानगुण का भी परिणमन है, दर्शन गुण का भी परिणमन है, सब गुणों का परिणमन है, और भिन्न-भिन्न समयों में व्यतिरेक रूप से अनेक परिणमन होते रहते हैं। उन पर्यायों में और एक ही क्षण में होने वाले अनन्त पर्यायों में व्यापने वाला जो सत् हे वह है महासत् और उस समग्र में एक ही उस पदार्थ के जिसके सम्बन्ध में महासत् देखा है, किसी एक पर्याय को निगाह में रखकर उसका अस्तित्व देखें तो वह है आवांतर सत्। इस तरह ये सत् सप्रतिपक्ष हैं।

पक्षस्थापन में द्वैतपने की गुम्फितता—अस्तिकाय के प्रकरण में अस्ति शब्द का यहाँ अर्थ कहा जा रहा है। वैसे तो कुछ भी बात बोलो उसमें द्वैत भाव की पद्धति पड़ी हुई है। कोई कहे कि तुम्हारी यह बात बिल्कुल सच है तो क्या इसका अर्थ यह नहीं निकला कि यह बात झूठ नहीं है? दोनों भाव बंधे हुए हैं। कोई यह हठ करे, नहीं जी हमारी बात सच ही है, तो क्या यह बात नहीं है कि हमारी बात झूठ नहीं है? यदि यह न हो तो अर्थ निकल आया कि झूठ है और जब झूठ का अर्थ निकल आया तो पहिली बात कहा रहेगी? तो कुछ भी बात बोलते ही उसका विरोधी भाव उसमें पड़ा हुआ है। 'आज मुझे मुनाफा हुआ है' इसका अर्थ क्या यह नहीं है कि आज मुझे टोटा नहीं रहा। टोटा नहीं रहा, मुनाफा रहा, खैर इसमें तो कुछ अन्तर लगा भी सकते हैं। मुनाफे का विरोधी शब्द यदि टोटा हे तो यह विधि निषेध का द्वैतभाव गुम्फित है और टोटे का अर्थ दूसरा हो अमुनाफा, इसका अर्थ दूसरा हो तो मुनाफा के मुकाबिले अमुनाफा शब्द रख लो। कुछ भी बात बोलो वह अपने प्रतिपक्षी भाव से गुम्फित है।

प्रत्येक निरूपण में स्याद्वाद की मुद्रा—प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक कथन में स्याद्वाद की मुद्रा गुम्फित है। किसी जगह कोई माल बना तो माल बनाने वाले लोग उसमें अपनी सील लगा देते हैं पर यहाँ तो यह सारा माल पड़ा है, यह किसी जगह किसी ने बनाया नहीं है। यह अपने-अपने स्वरूप से बना है। तो इसमें सील लगाने कौन आयेगा? इसमें सील वही वस्तु लगा लेता है और वह सील है स्याद्वाद। प्रत्येक ज्ञान प्रत्येक व्यवहार स्याद्वादकरि गुम्फित है।

हितार्थी की प्राथमिक और अन्तिम अनेकान्तता—इस स्याद्वाद का निकटवर्ती शब्द है अनेकांत। स्याद्वाद है वाचक और अनेकांत है वाच्य। स्याद्वाद में तो शब्दों की प्रभुता है और अनेकांत में वस्तुस्वरूप की प्रभुता है। अनेकांत कहते हैं जिसमें अनेक अंत पाये जायें। अंत का अर्थ है धर्म। सो जब तक व्यवहार मार्ग में अनेकांत का परिज्ञान कर रहे हैं तब तक तो ज्ञाता के उपयोग में यह अर्थ है कि इसमें अनेक पदार्थ हैं और जब अनेकांत का परिज्ञान करके कुछ अध्यात्म में उतरता है, निर्विकल्प समाधि के उन्मुख होता है उस समय मानो अनेकांत की ज्ञाता के उपयोग में यह व्याख्या बन गयी—'न एक: अपि अंत: यत्र स: अनेकांत:।' जहा एक भी धर्म नहीं है उसे कहते हैं अनेकांत। जहा रंच भी भेद नहीं है, गुणपर्यायकृत भी अन्तर नहीं है, केवल एक ज्ञानस्वरूप का अनुभव है वहाँ अंतिम फलित स्थिति हो गयी। स्याद्वाद से साध्य है अनेक अंत वाला अनेकांत और उस अनेकांत का साध्य है एक भी अंत न हो ऐसी निर्विकल्प स्थिति। यहाँ अस्ति शब्द से

पदार्थ का स्वरूप कहा गया है कि ये पदार्थ सत् हैं और कायरूप से सनाथ हैं, इस कारण ये 5 द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं।

पदार्थों का अस्तित्व—जगत् में समस्त पदार्थ 6 जातियों में बंटे हुए हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन समस्त द्रव्यों को विशेष-विशेष लक्षणों से पहिचानना यह भी भेदविज्ञान के लिए बड़ा सहायक है। किन्तु उसके साथ ही समस्त द्रव्यों में पाये जाने वाले साधारण गुणों की दृष्टि से सबको निरखना, यह भी भेदविज्ञान में बहुत सहायक परिज्ञान है। प्रत्येक पदार्थ है। है पर ही तो सारी बात शृङ्गार चलता है। हे तो मानना ही होगा। जीव है, पुद्गल है आदिक और इतना ही नहीं जीव अनन्त हैं सो वे सब अपने आपमें अपना-अपना है लिए हुए हैं। सो किन्तु यह है पना सर्व पदार्थों में अविशेषता लिए हुए है। है कि दृष्टि से जीव और पुद्गल में क्या अन्तर है?

अस्तित्व के सप्रतिपक्षत्व की वस्तुत्व द्वारा साध्यता—भैया ! अन्तर पड़ता है असाधारण गुण की दृष्टि से। पुद्गल मूर्तिक हैं, जीव चेतन है, अन्तर पड़ गया पर है पने की दृष्टि से क्या अन्तर? वस्तु है, आप हैं, हम हैं। वस्तु कुछ भी हो लेकिन वह वस्तु है ऐसा एकांत न चलेगा। वस्तु अपने स्वरूप से है पररूप से नहीं है। दृष्टांत में जैसे इस पुस्तक को उदाहरण में लें यह पुस्तक है। तो है इतने मात्र से काम न चलेगा। यह पुस्तक हे और यह चौकी, घड़ी, मेज, कुर्सी आदिक अपुस्तक नहीं हैं। यदि ऐसी सप्रतिपक्षता का गुम्फन ''है'' के साथ न लगा हो तो ''है'' भी नहीं टिक सकता। यह है तो क्या यह पुस्तक है, यह चौकी है, यह सर्वात्मक है। तो फिर यह यह नहीं रहा तो अस्तित्त्व के साथ प्रतिपक्ष का बना रहना आवश्यक है।

द्रव्यत्व का अर्थक्रियाकारिता में योग—अब वस्तु में अस्तित्व भी हो और स्वरूप से रहना, पररूप से न रहना ऐसा वस्तुत्व भी हुआ, इतने मात्र से भी कुछ काम नहीं बन सकता। क्या यह कूठस्थ ध्रुव है? परिणामी नहीं। यदि ध्रुव अस्तित्व हो, परिणामी न हो तो कुछ काम ही नहीं हो सकता, चलना-फिरना, चहल-पहल, बातचीत, संसारमार्ग, मोक्षमार्ग, जन्म लेना, मरना अथवा बना रहना—ये कुछ भी बातें नहीं हो सकती हैं। इस कारण यह भी निरखा जा रहा है कि प्रत्येक पदार्थ में परिणमनशीलता बसी हुई है। इसका ही नाम द्रव्यत्व है। यदि है तो निरन्तर परिणमता रहता है।

अगुरुलघुत्व द्वारा अर्थक्रियाकारिता की व्यवस्था—यह परिणमता है तो परिणमता रहो, ऐसा सीमारहित परिणमन क्या है कि किसी भी रूप परिणम जावे? नहीं, चेतन चेतन रूप ही परिणमेगा, अचेतन अचेतन रूप ही परिणमेगा। प्रत्येक पदार्थ अपने ही गुणों में परिणमेगा दूसरे में नहीं। इस मर्म का सूचक है अगुरुलघुत्व गुण। कानून बनाकर लोक को उस पर चलाना एक तो यह बात और एक लोक का परम्परागत प्रचलन देखकर कानून बनाना, इन दो बातों में पहिली बात पास नहीं हो सकती, चल नहीं सकती, लेकिन अनेक गलतियों को सुधार कर परम्परा से जैसे सभ्य पुरुषों में चलता है उसको देखकर कानून गढ़ना, यह बात चलने लायक बात है।

चरणानुयोग का महत्त्व—चरणानुयोग में भी जो कुछ क्रिया करना बताया है परमार्थत: उसकी भी स्थिति यही है। ज्ञातृत्व की कला की परख बिना चरणानुयोग बनाकर जीव को उस पर चलाना, यह बात नहीं हुई है

किन्तु ज्ञानी जीव जो कर्ममल भार से हल्के हो जाते हैं उनकी कैसी प्रवृत्तियां चलती हैं, उन प्रचलनों को दृष्टि में निरखकर चरणानुयोग में गुम्फन हुआ है और इसी कारण चरणानुयोग की विधियां जो निरूपित हैं उनके सहारे चूकि ये निर्दोष कथन हैं सो ऐसा प्रयत्न करके भव्य लोक में प्राय: चलता है। पहिले तो कुछ प्रवृति बना बनाकर चरित्र में चलना होता है, फिर जो यथार्थ बात है वह चरित्र में स्वयं फिट हो जाती है।

वस्तुगत तत्त्व का निरूपण—यह वस्तुस्वरूप भी कानून बनाकर गढ़ा नहीं गया, किन्तु परमार्थ में जो बात पायी जाती है उसको समझने के लिए उन्हें वचनों में बद्ध किया गया है। समस्त पदार्थ हैं और अपने स्वरूप से हैं पररूप से नहीं हैं—इन दो बातों की मिलती है। यों दो मित्र युगल हैं ये पदार्थ हैं व स्वरूप से हैं पररूप से नहीं, यह है प्रथम युगल और ये पदार्थ परिणमते हैं और अपने में ही परिणमते यह है दूसरे में नहीं परिणमते हैं, यह है द्रव्यत्व और अगुरुलघुत्व दो मित्रों की बात। ये चार साधारण गुण प्रत्येक पदार्थ में पाये जाते हैं।

पदार्थ में प्रदेशवत्त्व—भैया ! इतने पर भी अभी व्यवहार में उपयोग में बात पूर्णतया घर नहीं कर पायी। छितरा-बितरा परिज्ञान रहा, बंधा हुआ नहीं हो सका। तो अब प्रदेशवत्व गुण के द्वार से यह जानो कि ये समस्त गुण और परिणमन जहा होते हैं वे द्रव्य प्रदेशवान् हैं, केवल गल्प बात नहीं है, किन्तु है कोई पदार्थ प्रदेशवान जहा यह साधारण और असाधारण शक्तियों का काम चल रहा है?

पदार्थ में प्रमेयत्व—सब कुछ है और ज्ञान में न हो ऐसा भी नहीं है, सब प्रमेय है। न प्रमेय होता तो उनके सम्बन्ध में बात ही क्या चलती और ज्ञान का स्वरूप ऐसा है कि वह निर्दोष हो, निरावरण हो तो वह जानेगा। कितना जानेगा? यदि इसकी सीमा बना दी जाय तो उसका कारण क्या? ज्ञान ने इतना ही क्यों जाना, इससे आगे क्यों नहीं जाना? या तो कुछ न जाने यो सब जाने। बीच की बात ज्ञान में नहीं फबती। कुछ न जाने ज्ञान यह तो स्वरूप नहीं है। अपन समझ रहे है, सबके ज्ञान का स्वभाव जानना है, और सीमा रखकर जाने, यह युक्ति में नहीं बैठती क्यों कि यह ज्ञान दौड़-दौड़कर वस्तु के पास जा-जाकर नहीं जानता। यदि इस प्रकार जानने का स्वरूप हो तो थोड़ा कहना भी जचता कि जहा तक ज्ञान दौड़ेगा वहाँ तक जान जायेगा पर यह ज्ञान राजा अपने ही प्रदेश में ठहरा हुआ अपनी कला से सहज स्वभाव को जाने जाता है। जो कुछ हे वह जाना जाता है। तो यों सर्वपदार्थों में प्रमेयता अवश्य आ ही पड़ी।

साधारण और असाधारण गुणों की अविनाभाविता—इस प्रकार इन 6 साधारण गुणों के साथ सदा प्रवर्तमान ये पदार्थ अपने में स्वतंत्र-स्वतंत्र परिणमन करते चले जा रहे हैं। साधारण गुण को अपने ज्ञान में स्थान न दें तो असाधारण गुण से ज्ञान और व्यवहार की गाड़ी चल नहीं सकती और असाधारण गुण को अपने उपयोग में स्थान न दें तो केवल साधारण गुणों की गाड़ी नहीं चल सकती। इस कारण वह सदा महासत् और आवांतर सत् ऐसे प्रतिपक्षपने को लिए हुए ही है।

साधारण व असाधारण गुणों की अविनाभाविता का विवरण—पदार्थ में साधारण गुण न हो तो असाधारण गुण क्या करेगा? आत्मा में ज्ञानगुण है? हाँ है, और साधारण गुण माने नहीं तो, न परिणमन होगा, न सत्ता रहेगी, न कोइ्र आधार जचेगा, फिर तो उन्मत्त कल्पना हो जायेगी। यदि साधारण गुण ही माने गए और असाधारण स्वरूप कुछ न तका तो द्रव्यत्व से बना क्या? द्रव्यत्व का निर्णय हुआ क्या? तो साधारण और

असाधारण गुणों की परस्पर सम्बद्धता होती है और हैं ये प्रतिपक्षी भाव, ऐसी ही सामान्य सत्ता और आवांतर सत्ता इसका एक पदार्थ में सम्मिलन है। साधारण गुणों का प्रतिनिधि है महासत्ता और असाधारण गुणों की प्रतिनिधि है आवांतर सत्ता। ऐसे यथार्थ स्वरूप सहित पदार्थों का परिज्ञान करना हित पंथ में गमन करने के लिए आवश्यक है।

षड्द्रव्यरत्नमाला—यह 6 द्रव्यों की रत्नमाला भव्य जीवों के कंठ में आभरण के लिए शोभा के लिए हो जाती है। ज्ञानी की शोभा ज्ञान से है, और ज्ञान का रूप बनता है इन समस्त विश्व के पदार्थों के जानने से, तो ये सब पदार्थ इस ज्ञान की शोभा के लिए हैं। पदार्थ सम्बन्धी यह सामान्य विवरण करके अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि कौनसे द्रव्य में कितने प्रदेश हैं?

गाथा 35-36

संखेज्जा-संखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।
धम्माधम्मस्स पुणी जीवस्स असंखदेसा हु।।35।।
लोयायासे तावं इदरस्स अणंतयं हवे देसा।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा।।36।।

परिज्ञान का प्रयोजन मोहनिवृत्ति—जिन पदार्थों से हमें मोह तोड़ना है, अलग होना हैं उन पदार्थों का परिज्ञान होना भी तो आवश्यक है। जिसमें मोह फसा है उन पदार्थों को हम यथार्थ न जान सकें तो मोह हटेगा कैसे? ये धन, वैभव, मकान ये सब अचेतन पुद्गल स्कंध हैं। समानजातीय द्रव्य पर्यायें हैं। बहुत से अणु मिल करके यह मायारूप रख रहे हैं ये बिखर जायेंगे। भले ही थोड़ासा इतना अन्तर आ जाय कि बादल जरा जल्दी बिखर जाते हैं और यहाँ के ये पदार्थ कुछ देर में बिखरते हैं। पर बिखरने की प्रकृति ये सब बनाए हुए हैं।

पदार्थों की क्षणभंगुरता—पुराणों में कथन आता है, कि कोई राजा छत पर बैठा हुआ आसमान में मंडराते हुए बादलों के सौन्दर्य को देख रहा था, इतने में एक जगह बादलों की बड़ी उत्तम मंदिर की जैसी शिखर दिखी। वे बादल इस रूप हो गए थे कि मानों मंदिर की शिखर बन गयी हो। वह दृश्य उस राजा को बड़ा सुहावना लगा। सोचा कि मैं इसका चित्र बना लू। वह राजा चित्र बनाने की कला जानता था। सो नीचे कागज, पेंसिल लेने के लिए राजा चला गया। जब कागज, पेंसिल लेकर राजा आया तो देखा कि सारे बादल छितर-बितर हो गए हैं। उसको देखते ही उसे वैराग्य आया। जैसे ये बादल अभी मंदिर और शिखर के रूप में थे, थोड़ी ही देर में ये सब बिखर गए, यों ही यह शरीर मिला है, यह समागम मिला है, थोड़ी देर को अपने आकार प्रकारों के रूप में ये प्राप्त हैं। कुछ समय बाद ये सब बिखर जायेंगे।

अतीत घटना से भावी घटना के अंदाज की सुगमता—वे बाबा दादा जिनका बड़ा प्यार था हम आपके प्रति, आज वे कहां सामने हैं? अब व्यवहार से ऐसा जाना जाता है कि पिता को पुत्र पर जितनी प्रीति हो सकती है उससे कहीं अधिक प्रीति बाबा की पोते पर होती है। कैसे जानें? पहिले तो एक सरकारी निर्णय

देखो, बाबा की जायदाद पर नाती का अधिकार रहता है उस पर बाप का अधिकार नहीं रहता। बाप अपनी जायदाद का कुछ भी गड़बड़ कर सकता है मगर बाबा की जायदाद पर बाप क्या गड़बड़ कर सकता है? करेगा तो सरकार में बाप पर नालिश की जा सकती है। बाबा की जायदाद पर नाती के अधिकार का कानून बना हुआ है। पुराणों में प्राय: नाती का नाम वह रखा जाता था जो बाबा का नाम था। जैसे मानों कोई सत्यंधर है और उसका पुत्र जीवन्धर है तो जीवन्धर का पुत्र सत्यंधर नाम पायेगा। फिर मोह की बात देखो बाबा को नाती पर मोह ज्यादा होता होगा, इसका हमें कुछ परिज्ञान नहीं है, आप लोग ही बता देंगे तो समझ जायेंगे। तो ऐसा ही कई बातों से जाना जाता हे कि बाबा को नाती-पोतों पर प्रीति पुत्रों से भी अधिक होती है। तो वे बाबा रहे कहां जिनका अपने पर ऐसा विलक्षण प्यार बना था। उससे ही अंदाज कर लो, अपना भी ऐसा ही हाल होगा।

पर में आत्मीयता की बुद्धि उन्मत्तचेष्टा—भैया ! जो कुछ भी समागम प्राप्त है वह सब बादलों की तरह उतनी जल्दी न सही, कुछ देर लगे सब बिखर जायेंगे। तो ये दृश्यमान् स्कंध, द्रव्य पर्यायें समानजातीय द्रव्य पर्यायें हैं। जब ये अनेक द्रव्यों से मिलकर मायारूप रख रहे हैं तो जो मिले हैं वे विघट जायेंगे। यहाँ कुछ भी मोह किए जाने के योग्य नहीं है ये चेतन पदार्थ मनुष्य, घोड़े, हाथी, परिजन, कुटुम्ब ये सब एक-एक जीव हैं और अपनी योग्यतानुसार अपने कर्मों के अनुसार अपनी सृष्टि करते चले जा रहे हैं। इनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे चलते-फिरते लोगों को कोई पागल अपना मान ले और उनके उपयोग में दु:खी होता फिरे, इसी तरह एक गति से दूसरे गति को चलते फिरने वाले इन कुटुम्बी जनों को कोई अपना मान ले तो उनके उपयोग पर, उनके मन के प्रतिकूल होने पर दु:खी होगा।

ज्ञानी व मोही की वृत्ति में अन्तराशय का एक दृष्टान्त—जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है उस पर कायम रहने वाला उपयोग क्लेश नहीं पा सकता है। हम सही बात पर कायम नहीं रहते हैं। इतना ही अच्छा है कि दृष्टि तो बनी है कि उस पर कायम रहना चाहिये और मन में भाव होता है, पर ईमानदारी से यह बात यदि सत्य है कि हमारी दृष्टि जगी तो है कि हम वस्तु के ऐसे स्वतंत्र स्वरूप के परिज्ञान पर कायम रहें। यदि इतनी दृष्टि भी जगी तो उसे वर्तमान समागम में मोह का क्लेश नहीं रह सकता है। काम तो एक दूकानदार भी करता हे और एक सर्विस करने वाला भी करता है पर मोह सर्विस करने वाले को नहीं है। अपनी ड्यूटी का अथवा नियत काम कर लिया, छुट्टी पायी, मोह नहीं रहा, पर दूकानदारी के कार्य में प्राय: मोह बना रहता है। सो रहे हैं, अधर्नींद में भी दूकान की बात चक्कर काट रही है। ऐसे सर्विस करने वाले के चित्त में चक्कर नहीं काटती है। यह बात कह रहे हैं एक दृष्टांत के लिए ज्ञानी और मोही की वृत्ति के परीक्षण की बात।

ज्ञानी के परिणमन के प्रति उपेक्षा—यदि वस्तुस्वरूप पर हमारी दृष्टि कायम होने को है तो अन्य पदार्थ का विकल्प चिन्तन चिन्ता रूप में न रहेगा उसमें ऐसा साहस जगेगा कि कोई जीव, कोई पदार्थ यों परिणमा तो भला, यों परिणमा तो भला, अन्तर में आकुलता न मचायेगा। इन 6 द्रव्यों का स्वरूप जानने का फल यह मिलता है कि इसकी अपेक्षा जगती है, मोह हटता है, आकुलता दूर होती है। उन ही 6 द्रव्यों के सम्बन्ध में प्रदेशत्वता के रूप में यहाँ यह बताया जा रहा है कि किस पदार्थ के कितने प्रदेश होते हैं?

प्रदेशमुखेन वस्तु का व्यावहारिक विशद बोध—इन द्रव्यों में कितने प्रदेश होते हैं यह कथन कर रहे है। प्रदेश किसे कहते हैं? पहिले यह समझ लीजिये तो यह समझ में विशेष आयेगा कि यह पदार्थ इतने प्रदेशवान् है तो इसका यह मतलब है शुद्ध पुद्गल परमाणु के द्वारा जितने आकाश का स्थल रोका जा सकता है उसका नाम प्रदेश है? प्रदेश परमाणु के बराबर है और परमाणु एक प्रदेश के बराबर है। इस तरह पुद्गल द्रव्य में संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं।

पुद्गलद्रव्य की प्रदेशवत्ता के सम्बन्ध में पारमार्थिक व औपचारिक निर्णय—पुद्गलद्रव्य में वस्तुत: तो एक ही प्रदेश है क्योंकि पुद्गल एक परमाणु का ही नाम है, किन्तु परमाणु परस्पर में मिलकर ऐसा बंधनबद्ध हो जाता है कि वह सजातीय अनेक द्रव्य पर्यायात्मक हो जाता है। तब ऐसे छोटे स्कंध हैं कि कोई संख्यात प्रदेश वाले हैं, कोई स्कंध असंख्यात प्रदेश वाले हैं और कोई अनन्त प्रदेश वाले हैं। संख्यात दो से शुरू होता है, गिनती एक से शुरू नहीं होती है। वह तो एक है, गिनती शुरू होती है 2 से। तो जघन्य संख्यात 2 का नाम है और उत्कृष्ट संख्यात अनगिनते की तरह है अर्थात् जघन्य असंख्यात में एक कम कर दिया जाय तो उत्कृष्ट संख्यात हो जाता है। असंख्यात भी नाना प्रकार के होते हैं और अनन्त भी कई प्रकार के होते हैं।

स्कन्धों की विभिन्न प्रदेशिता—किसी भी स्कन्धरूप पुद्गलद्रव्य में उत्कृष्ट अनन्त प्रदेश नहीं होते हैं फिर भी अनुत्कृष्ट अनन्त प्रदेश होते ही है। दिखने में जितने पुद्गल आते हैं वे अनन्तप्रदेशी पुद्गल हैं संख्यात प्रदेशी और असंख्यातप्रदेशी भी पुद्गल दिखने में नहीं आते। अब जान लीजिए कि सबसे छोटा स्कंध जो आंखों से दिख सकता है उसमें अनन्त परमाणु समाये हैं। एक परमाणु कितना छोटा होता होगा? यह व्यवहार पर्याय में नहीं बताया जा सकता है। एक युक्ति से ही समझा जायेगा। पुद्गलद्रव्य परमार्थत: एकप्रदेशी है और उपचारत: कोई संख्यातप्रदेशी है, कोई असंख्यातप्रदेशी है और कोई अनन्तप्रदेशी है।

आकाश का औपचारिक भेद व प्रदेशवत्त्व—एक जीव, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य ये असंख्यातप्रदेशी होते हैं। आकाशद्रव्य अनन्तप्रदेशी होता है, पर उस आकाश के प्रदेश में दो विभाग कर लिए जाते हैं। जितने आकाश में समस्त द्रव्य रहते हैं उतने का नाम है लोकाकाश। और उससे परे समस्त आकाश अलोकाकाश कहलाता है। जहा आकाश ही आकाश है अन्य कोई द्रव्य नहीं है उसे लोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश के तो अनन्त प्रदेश हैं और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। वास्तव में ये दो भेद हैं नहीं, आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, पर इतने बड़े विस्तार वाले आकाश में जो कि एक अखण्ड है उसमें द्रव्य के रहने और न रहने की अपेक्षा से भेद किया गया है। कोई कहे कि आकाश भी अनन्त मान लो। एक-एक प्रदेश पर एक-एक आकाश है। सो आकाश यों अनन्त नहीं माना जा सकता है क्योंकि आकाश का कुछ भी एक परिणमन है वह अनन्त प्रदेशों में वही का वही एक परिणमन होता है।

एक पदार्थ का परिमाण—द्रव्य एक उतना कहलाता है कि जो एक परिणमन जितने में पूरे में होना ही पड़े और जिससे बाहर परिणमन कदाचित् न हो, उतने को एक कहा करते हैं। इस परिभाषा के अनुसार जीव में निरख लो—एक जीव उतना है कि एक परिणमन जितने में होता है और जिससे बाहर कभी नहीं होता है। जैसे ज्ञान परिणमा तो यह न होगा कि आधे भाग में ज्ञान परिणम जाय और आधे भाग में न परिणमे। वही ज्ञान परिणमन जो एक प्रदेश में है वही ज्ञान परिणमन सर्वप्रदेशों में है। यदि गुणपरिणमन पदार्थों में ऐसे

विभाग से रहे तो वह एक पदार्थ नहीं है, अनेक पदार्थ है और अनुभव से भी यह बात विदित होती है कि जीव में जो भी एक परिणमन है, ज्ञान का हो या कोई क्रोधादिक विकार परिणमन हो वह सर्वत्र आत्मप्रदेशों में होता है।

वेदना की सर्वप्रदेशिता—कभी ऐसा मालूम देता है कि हाथ में फोड़ा हुआ तो जहा फोड़ा होता है वहाँ ही वेदना का दु:ख है, किन्तु बात ऐसी है नहीं। दु:ख सर्वत्र प्रदेशों में है किन्तु वह दु:ख जिस अवयव का निमित्त पाकर हुआ है यह उपयोग उस पर लगता है। यह तो बात है ही कि उस फोड़े का निमित्त पाकर दु:ख हुआ, सो उस फोड़े का निमित्त न रहता तो इस जीव को दु:ख न रहता। तो अब वह वेदना का आश्रय वहाँ मिला। तो जैसा वहाँ परिणमन हुआ उसका आश्रय पाकर वेदना की उत्पत्ति होती है, एतावन् मात्र सम्बन्ध है, पर वेदना नामक जो संक्लेश परिणमन है वह संक्लेश परिणमन आत्मा में सर्व प्रदेशों में होता है।

ज्ञान की सर्वप्रदेशिता—कभी ऐसा लगने लगता है कि ज्ञान मस्तक में पैदा होता है किन्तु ऐसा नहीं है। ज्ञान सर्वत्र आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होता है किन्तु हमारे इस क्षायोपशमिक ज्ञान की उत्पत्ति जैसा कि हमारा बाह्य स्थान है, जैसा इन्द्रिय स्थान है, मन स्थान है ऐसा ही विशेष अंग स्थान है, इस कारण दृष्टि वहाँ जाती है और वहाँ उपयोग अपना केन्द्र बना लेता है किन्तु वस्तुत: ज्ञान का परिणमन सर्वत्र आत्मप्रदेशों में होता है। पदार्थ अपनी सर्वशक्तियों में तन्मय है तब उसका सद्भाव सर्वत्र है उस पदार्थ में और जब जीव परिणमन होता है वह भी सर्वत्र है। इस परिभाषा के अनुसार जो एक-एक जीव हैं, वे सब संचित होकर अनन्त हैं।

परमाणु में एक परिणमन—पुद्गल में ऐसा एक परमाणु परमाणु है। किसी काठ में, चौकी में, किसी भी खूट में अग्नि लग जाय तो वह एक ओर से जल रहा है बाकी नहीं जल रहा है। ये दृश्यमान पुद्गल यदि एक होते तो उनका जलन एक ही समय में सर्वत्र होता। एक ही समय में वही परिणमन सर्वत्र हो, ऐसी बात किसी पुद्गल में रहेगी तो वह परमाणु है। इस कारण परमाणु वास्तविक पुद्गल द्रव्य है और स्कंध अनेक द्रव्य पर्याय है।

पदार्थों के प्रदेशित्व विवरण का उपसंहार—आकाश वस्तुत: एक है, अखण्ड है। उसमें पर की अपेक्षा लेकर दो भेद किए गए है—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य सदा विस्तार में भी एक प्रमाण वाले हैं। जितना बड़ा लोकाकाश फैला हुआ है उतना ही बड़ा यह धर्मद्रव्य फैला है और उतना ही बड़ा अधर्मद्रव्य फैला है, किन्तु एक जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी होकर भी विस्तार में लोकाकाश के बराबर केवल एक समय में केवली समुद्घात के लोकपूरण अवस्था में होता है और कभी भी नहीं होता है। तो इस प्रकार धर्मद्रव्य एक ही है, अधर्मद्रव्य एक ही है तथा एक जीव, इसमें असंख्यात प्रदेश होते हैं। बाकी जितने असीम अलोकाकाश हैं उनके अनन्त प्रदेश हैं। यह तो हुआ 5 अस्तिकायों का वर्णन। अब एक द्रव्य रह गया काल, उसका वर्णन सुनिये। कालद्रव्य एकप्रदेशी है और इसी कारण उसे अस्तिकाय नहीं कह सकते हैं किन्तु द्रव्यरूप अवश्य है अर्थात् है और परिणमता रहता है। द्रव्यत्व के नाते जो भी बात चाहिए वह सब कालद्रव्य में है पर अस्तिकायपना नहीं है। एक-एक प्रदेशी कालाणु एक-एक लोकाकाश के प्रदेश पर अवस्थित है।

पदार्थों के परिज्ञान से शृङ्गार व आत्महित शिक्षा—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्रधानता से यदि अणुवों को सोचा जाय तो द्रव्याणु तो परमाणु है, क्षेत्राणु आकाश का एक प्रदेश है, कालाणु कालद्रव्य है और भावाणु

जीवद्रव्य है। यहाँ प्रधानता से और मर्म को समझने के लिए ऐसा कहा जा रहा है। यह 6 द्रव्यों का समस्त विवरण शृङ्गार के लिए भी है और परमार्थ शिक्षा के लिए भी है। लोक शृङ्गार क्या है कि इन 6 द्रव्यों के विषय में विविध ज्ञान हो और वह कंठस्थ हो और उसे हम बोल सकें, बता सकें तो यह 6 द्रव्यों के द्वार से पुरुष का शृङ्गार बना है और परमार्थ शिक्षण क्या है कि हम समस्त द्रव्यों के सम्बन्ध में यह जान जायें कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, अपने आपमें परिपूर्ण है, अधूरा कोई नहीं है। प्रत्येक परिणमते रहते है। ऐसा स्वतंत्र स्वरूप निरखकर हम समस्त पर से विरक्त हों और ज्ञानानन्द रस में मग्नता पायें, यह है सर्वद्रव्यों के परिज्ञान से प्राप्त होने वाली शिक्षा।

व्यवहारपूर्वक निश्चयप्रतिबोध—इस विवरण के परिज्ञान में वर्तमान पुरुष व्यवहारमार्ग को जानता है और व्यवहारमार्ग जानकर फिर शुद्ध मार्ग का प्रतिबोध पाता है। ज्ञानी पुरुष के उस धर्ममार्ग के प्रचार के प्रति भी बड़ा धैर्य है। किस पदवी में किस पुरुष का किस विधि से अध्ययन और उपदेश होना चाहिए, यह ज्ञानी की दृष्टि से ओझल नहीं है। एक निश्चय मार्ग से हमने जान लिया और सभी जीवों को एक उस निश्चयमार्ग से ही प्रतिबोधा जाय, सिखाया जाय तो कोई यदि यह प्रश्न कर दे उस व्यक्ति से कि क्या आप भी प्रारम्भ से इस ही निश्चयस्वरूप से प्रतिबोध को प्राप्त हुए हैं? उत्तर क्या देगा? बच्चे थे, मां बाप के साथ दर्शन का कौतूहल रखते थे। बालक बनकर विद्याध्ययन किया और कितने-कितने स्थानों में समागम से लाभ लिया और सर्व प्रकार व्यवहार की बातों में कुशल बने अपनी शक्ति अनुसार और फिर इस निश्चयमर्म को भी जाने। तो जिस चीज का विधान हुआ करता है जिस पद्धति से पद्धति का प्राय: प्रयोग हो तो उसमें सफलता होती है, पर व्यवहार मार्ग जाने, सर्व प्रकार पर्याय और व्यवहार का विवरण समझे, वहाँ निश्चय का मर्म भर पाये तो यह हमारा उद्‌बोधन हमें सफल होगा।

परिज्ञान का प्रयोजन यथार्थ लगाव व अलगाव की वृत्ति—यह समस्त विवरण एक ज्ञान की स्वच्छता के लिए है। जितना विशद बोध होगा उतना ही जिससे हमें हटना है उसका हटाव उत्तम होगा और अपने आपमें लगाव होगा। पर से लगाव और अपने से अलगाव कुछ वस्तुगत नहीं है किन्तु इस जीव ने बाह्य पदार्थों से तो मोहवश लगाव लगाया है और अपने आपकी ओर से अलगाव बना हुआ है। यहाँ भी कुछ पर से लगाव नहीं है और अपने से अलग नहीं है, पर उपयोग में तो वह पर से लगा है और अपने से अलगाव है, जुदा है। जब ज्ञानप्रकाश होता है तब पर से तो अलगाव हो जाता है और अपने आपमें लगाव हो जाता है। कितना बहुत छोटासा कार्य है मूल में कि जिस कार्य के विस्तार में संसार और मोक्ष जैसा महान् अन्तर हो जाता है।

मुक्ति का उपक्रम—मोक्ष में हम कैसे लगें, धर्मपथ हमारा कैसे बने? इसका उपाय बहुत थोड़े शब्दों में कहा जाय अथवा कोई कहे कि मुझे बहुत सी बातें न बतावो। मुक्ति के लिए तो मुझे केवल एक छोटीसी बात बता दो, जिसका आश्रय लेकर हम संकटों से मुक्ति पाने में शीघ्र सफल हो सकें तो वह उपाय एक बहुत छोटासा है क्या कि 'जितपिट्ठा तिटदिष्ठा जित दिट्ठा तित पिट्ठा।' इतना ही उपाय है। जिस ओर हमारी पीठ इस समय बनी है उधर को देखना है और जिस तरफ देख रहे हैं उस तरफ पीठ करना है। उपयोग दृष्टि की बात कही जा रही है। हम अपने आत्मस्वरूप की ओर तो पीठ किए हुए हैं तो उस ओर तो हमें देखना है

और बाह्यपदार्थों की ओर दृष्टि किए हुए हैं सो उस ओर पीठ करना है। ये बाह्य पदार्थ खूब भले-भले दिख रहे हैं, ये मेरे हैं, ये दूसरे के हैं सो इन बाह्य पदार्थों की ओर पीठ करना है और अपने आत्मस्वरूप की ओर दृष्टि करना है।

परिचित की उपासना—जैसे आप लोग यहाँ बैठे हों। इनमें से जिन्होंने श्रवण-बेलगोल में बाहुबलि की प्रतिमा के दर्शन किये हैं उनसे कहा जाय कि उसको निरख लो तो एक क्षण में ही वे निरख लेंगे क्योंकि उनकी देखी हुई वह चीज है। इसी तरह ज्ञानानन्दस्वरूप जिसके परिचय में आया है, जिसने सहज आनन्द का अनुभव किया है उसे जब कभी मन में आये तो इस ज्ञानानन्द रस में मग्न होने में विलम्ब नहीं लगता। कितना ही बाह्य झंझटों में आप पड़े हों, एकदम ज्ञानानन्द स्वरूप में आपका उपयोग लग जाता है और ज्ञानानन्द रस का अनुभव होने लगता है।

आनन्दवृत्ति का उद्यम—जैसे मोटर गाड़ी आगे नि:शंक चले सो वे पेट्रोल आदि डालकर पहिले से ही ठीक कर लेते हैं ताकि फिर आनन्द से बढ़ाए चलें। ऐसे ही आनन्द की गाड़ी बढ़ाने के लिए, चलाने के लिए हम अपने इस ज्ञानस्वरूप की दृष्टि करने रूप कुछ तैयारी बना लें, फिर तो उसके स्मरण के प्रसाद से भी शेष समय हमारे अनाकुलता में चल सकते हैं। यों 6 द्रव्यों का वर्णन उनसे अपने को हटाने के लिए और अपने में अपने को लगाने के लिए किया जा रहा है।

अजीवाधिकार में 5 प्रकार के जीवों का न अतिसंक्षेप से, न अति विस्तार से वर्णन किया गया। अब उस वर्णन का इस अंतिम गाथा में उपसंहार किया जा रहा है। उपसंहार कहते हैं जो कुछ कहा गया है उसमें रही सही बात को अथवा उसका किसी संक्षिप्त तत्त्व को कह देना, सो उपसंहार है। कथन को संकोच करके मूल मुद्दे को दर्शाते हुए वर्णन करने को उपसंहार कहते हैं। अजीव द्रव्य के व्याख्यान के उपसंहार में अब यह गाथा अवतरित होती है।

गाथा 37

पोग्गलदव्वं मुत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा।।37।।

पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, शेष के द्रव्य मूर्तिपना से रहित हैं। जीव चैतन्यस्वभाव वाला है और शेष द्रव्य चैतन्य गुण से रहित हैं।

लक्षण से जाति का प्रतिबोध—पदार्थ तो अनन्त होते हैं, परंतु पदार्थ की जातियां बनाकर यहाँ मूलभूत द्रव्य की 6 जातियां बतायी गयी हैं। जाति उसे कहते हैं कि जिसमें विवक्षित सभी पदार्थ आ जाए और अविवक्षित कोई पदार्थ न आए। जीवद्रव्य जैसा स्वलक्षणात्मक है उस स्वलक्षण की दृष्टि में जितने भी जीव हैं सबका ग्रहण हो जाता है और जीव से अतिरिक्त किसी भी द्रव्य का ग्रहण नहीं होता। इस ही को पहिचान कहते हैं, लक्षण कहते हैं। जहा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव—ये तीनों दोष नहीं रहें ऐसे लक्षणों को पदार्थ का शुद्ध लक्षण कहा करते हैं।

लक्षण का अव्याप्तिदोष से लक्षणाभासपना—अव्याप्ति दोष का अर्थ है 'न व्याप्ति इति अव्याप्ति।' जो न व्यापे, न रहे उसे अव्याप्ति कहते हैं अर्थात् जो समस्त लक्ष्य में न रहे उसका नाम अव्याप्ति है। इस ही को इस भाषा में कह सकते हैं कि जो लक्ष्य के एक देश में रहे उसे अव्याप्ति कहते हैं, किन्तु शब्दों के अनुसार अर्थ यह नहीं है। यह तो फलितार्थ है, शब्दार्थ यह है कि जो समस्त लक्ष्य में न रहे उसे अव्याप्ति कहते हैं। जैसे पशु की कोई पहचान पूछे कि बतावो पशु का लक्षण क्या है और कोई उत्तर दे दे कि पशु का लक्षण सींग है। तो एकदम सीधा सुनने में तो लगेगा कि ठीक ही तो कहा है, पशुवों के ही तो सींग होते हैं, किन्तु सींगरूप लक्षण समस्त पशुवों में नहीं पाया जाता है। इससे पशुवों की पहिचान सींग बताना युक्त नहीं है। पहिचान वह होनी चाहिए जो समस्त लक्ष्य में रहे और अलक्ष्य एक में न रहे उसे कहते हैं लक्षण। जैसे पशु का लक्षण क्या हो सकता है, इस बाबत कभी ध्यान ही नहीं दिया, पर यह सम्भव है कि जिसके चार पैर होते हैं सो पशु है। यदि यह बात सही है कि पशु के सिवाय और किसी के चार पैर नहीं होते और सब पशुवों के चार पैर होते हैं तो यह लक्षण सही बन जायेगा। जीव का लक्षण क्या है? कोई कहे कि जीव का लक्षण है राग, खाना, पीना, चलना, बैठना ये ही जीव के लक्षण हैं। तो यह लक्षण निर्दोष नहीं है क्योंकि रागादिरूप लक्षण सब जीवों में नहीं पाया जाता है। शुद्ध आत्मावों में राग कहां है? तो अव्याप्ति दोष नहीं हो और अतिव्याप्ति दोष नहीं हो, साथ ही असम्भव दोष नहीं हो तो वही लक्षण सही-सही माना जाता है और उससे ही फिर जातियां बनती हैं। जातियां लक्षणों से ही प्रकट हुआ करती हैं।

अतिव्याप्ति दोष से लक्षण का लक्षणाभासपना—कोई पूछे कि गाय का लक्षण क्या है? और उत्तर दिया जाय यह कि गाय का लक्षण सींग है तो थोड़ा शब्द सुनने में तो ठीकसा जच जाता हे। ठीक ही तो कह रहे हैं कि गाय के सींग होते हैं। पर यह बात नहीं कही जा रही है। गाय का लक्षण सींग बताया जा रहा है कि जहा-जहा सींग मिलें उस उसको गाय समझना तो यह लक्षण सही तो नहीं है क्योंकि सींग लक्ष्यरूप गाय के अलावा अन्य पशुवों में भी रहा करता है। भैंस, बकरी, बैल, भेड़, बारहसिंगा आदि अनेक पशुवों के सींग रहा करते हैं। तो यह अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। अतिव्याप्ति कहते किसे हैं? जो अति मायने अधिक व्याप्ति मायने रहे। जो लक्ष्य के अलावा अलक्ष्य में भी रहे उसे अतिव्याप्ति कहते हैं। तो गाय का सींगरूप लक्षण हैं क्या? नहीं क्योंकि गाय के अतिरिक्त अन्य पशुवों में भी सींग पाये जाते हैं। ऐसा यह अतिव्याप्ति दोष है। जीव के सम्बन्ध में पूछा जाय कि जीव का लक्षण क्या है? और कोई कहे कि जीव का लक्षण है अमूर्तिकता। रूप, रस, गंध, स्पर्श का न होना, तो जरा जल्दी सुनने में अनेक लोगों को ऐसा लगेगा कि यह ठीक तो कह रहे हैं। जीव में रूप, रस, गंध, स्पर्श कहा होते हैं, पर यह नहीं कहा जा रहा है। लक्षण बांधा जा रहा है। जो-जो अमूर्त हो वह-वह जीव है—ऐसा बंधन किया जा रहा है। जीव अमूर्त है, यह तो ठीक है, पर जीव का लक्षण अमूर्त नहीं हो सकता क्योंकि अमूर्तपना जीव के अतिरिक्त अलक्ष्य में भी पहुंच गया। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य ये भी अमूर्तिक हैं।

असंभव दोष—कोई कहे कि जीव का लक्षण है भूतचतुष्टय से जो उत्पन्न हो जाना है यह बिल्कुल ही असम्भव है। जैसे कोई पूछे कि मनुष्य का लक्षण क्या है और कोई उत्तर दे कि मनुष्य का लक्षण सींग है।

तो क्या किसी मनुष्य के आपने सींग देखा है? यह लक्षण तो बिल्कुल ही असम्भव है, जहा तीनों प्रकार के दोष नहीं होते है, ऐसे लक्षण से जाति बना करती है।

पदार्थ का निर्दोष लक्षण स्वभाव—जीव की जाति कैसे पहिचानी जाय? उसकी पहिचान है जो उसका स्वभाव है। जहा-जहा चेतन है वे सब जीव हैं। पुद्गल का लक्षण बताया है रूप, रस, गंध, स्पर्शमयता। यह लक्षण पुद्गल को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है। परमाणु हो या स्कंध हो सर्वत्र पुद्गल में रूप, रस, गंध, स्पर्श पाये जाते हैं। चाहे कहीं मालूम पड़े अथवा न मालूम पड़े या कहीं चारों में से एक दो मालूम पड़े, शेष न मालूम पड़े। यह मालूम पड़ने की बात है किन्तु समस्त पुद्गलों में ये चारों गुण नियम से हुआ करते हैं। धर्मद्रव्य की जाति है गतिहेतुत्व, अधर्म का लक्षण है स्थितिहेतुत्व, आकाश का लक्षण है अवगाहनहेतुत्व और कालद्रव्य का लक्षण है परिणमनहेतुत्व। यों सर्व पदार्थों की जातियां ये 6 होती हैं। उनमें से जीव तो एक है और अजीव 5 हैं।

वस्तुस्वरूप की अनुसारिता—यह अधिकार है अजीव द्रव्य का। उक्त अजीव में से मूलपदार्थों में सबसे प्रथम बताया गया है पुद्गल। जो सुगम जाना जा सके उसको वर्णन में पहिले लिया करते हैं। इन अजीव पदार्थों में से पुद्गल अति सुगमतया जाना जाता है। उस पुद्गल में मूर्तपना है। रूप, रस, गंध, स्पर्शमयता है और पुद्गल को छोड़कर शेष पदार्थ सब अमूर्त हैं। कानून बनाकर वस्तु नहीं बताई जा रही है किन्तु जैसी वस्तु है उसका ज्ञान करने के लिए उसके अनुरूप वर्णन किया जा रहा है। बहुत से व्यवहार ऐसे हैं कि परम्परागत व्यवहार को मानकर चला जाता है तो उसमें असफलता नहीं मिलती है। धर्म के मार्ग में, सभ्यता के पथ में बहुत से पुरुषों के द्वारा छन-छनकर यह स्पष्ट रूप मिल रहा है। तो वस्तुवों में जो स्वरूप पाया जाता है उस स्वरूप को दृष्टि में लेने के लिए उसके अनुरूप वर्णन होना यह तो है सफलता का साधन और हम सब कुछ स्वरूप गढ़ लें, बना लें और उसके अनुसार बाहर में व्यवस्था करें, प्रबंध करें, स्वरूप देखें तो वह सब प्राय: असफल होगा।

ज्ञेयों में जीव व पुद्गल की प्रमुखता—इस समस्त पदार्थों में पुद्गल द्रव्य तो मूर्तिक है और शेष के सर्व द्रव्य अमूर्त हैं। तो मूर्त और अमूर्त के नाते से एक ओर तो मूर्त पुद्गल बैठा है और दूसरी ओर सब द्रव्य आ गए, इस तरह जब चेतनत्व और अचेतनत्व का मुकाबला करें तो चेतनत्व मिलेगा जीव में और शेष द्रव्यों में मिलेगा अचेतनत्व। जीव चेतन है, जाननहार, देखनहार है और अजीव कोई भी न जानता है न देखता है। उस अशुद्धता और शुद्धता के मुकाबले में विचार किया जाय तो अशुद्धता केवल जीव और पुद्गल में मिलेगी। पुद्गल में तो स्वजातीय बंधन की अपेक्षा अशुद्धता है और जीव में विजातीय बंधन की अपेक्षा अशुद्धता है। पुद्गल, पुद्गल के संयोग में अशुद्ध हो जाता है और जीव पुद्गल के संयोग में अशुद्ध हो जाता है। भैया ! जीव और अजीव का स्पर्श, सम्बन्ध कहीं नहीं होता है, फिर भी मोही जीव प्राय: जीव और अजीव को एक में मिलाने के प्रयत्न में रहता है।

मोहनिद्रा में छोटे बड़े की कल्पना का स्वप्न—यह मोही जीव अज्ञान में हठ किए रहता है और इसी व्यामोह के फल में न कुछ जरा-जरासी बातों में विवाद और कलह हो जाते हैं। संसार में सुख है कहां? जो बड़ा है वह हुकुम दे-देकर दु:खी होता है और जो छोटा है वह हुकुम मान-मानकर दु:खी होता है। यहाँ यह

सोचा जाय कि छोटे लोग तो दु:खी रहते हैं और बड़े लोग सुखी रहा करते हैं तो ऐसा कुछ नहीं है। जैसे छोटे आदमी दु:खी हैं, बल्कि किन्हीं अपेक्षावों से छोटे की अपेक्षा बड़ा दु:खी अधिक है। छोटे की लालसा तृष्णा उनकी कल्पना की सीमा थोड़ी है। इतने की सिद्धि हो गई तो मौज से गाते फिरते अपना समय बिताते हैं और कहो बड़े के, चूकि तृष्णा अधिक है सो उस तृष्णा के कारण रात-दिन चैन नहीं मिलती है।

लोकवैभव से छोटे बड़े का अनिर्णय—भैया ! बताओ जरा बड़ा कहेंगे किसे? धन में बड़ा होता है कोई ऐसा मानें तो आप ही लोग पंचायत करके कमेटी करके हमको फैसला दे दो कि इतने रुपये हों तो उसे बड़ा कहते हैं या धनी कहते हैं। जो फैसला करे वह बिल्कुल सही करे। कोई विचार कर सकता हो तो खूब विचार करके बता दे कि बड़ा उसे कहते हैं। किसी के पास करोड़ रुपये का वैभव हो तो क्या उसे बड़ा कहेंगे? अरे उसके सामने किसी अरबपति का वैभव रख दो तो वह करोड़पति उसके सामने छोटा हो जायेगा। सभी अपनी कल्पना से बड़े बने हैं, पर यहाँ कोई बड़ा नहीं है।

संघर्ष से बड़ों की सृष्टि—यहाँ एक बात मर्म की यह है कि कोई बड़ा बहुत बड़ी विपत्तियां सहने के बाद में बन सकता है। एक बड़ा नाम उसका है जो उड़द की दाल से बनता है। वह भी बड़ा कहलाता है। उस बड़े की कहानी सुन लो। पहिले तो दाल पानी में भिगोते हैं, 10 घंटे तक के लिए फुला देते हैं। बाद में उसको रगड़ते हैं हाथ से ताकि इसके छिलके निकल जायें। अभी दो ही कष्ट आए। फिर सिलबट्टे से पीस-पीसकर चूर कर देते हैं और कंजूस हो तो थोड़ी कुशल भी रहे, थोड़ा पानी डालकर कढ़ी बना लिया। क्योंकि उसमें घी कम लगता है। उसके बाद उसे खूब फेंटा, चार बातें अभी हुई हैं, इसके बाद फिर उसकी सकल बिगाड़ कर गोल-गोल कर लिया, यह हुई 5वीं बात, फिर उसे कड़ाही में डालकर खूब सेंका। इसके बाद भी मन नहीं मानता, सो लोहे की पतली सींक से उसका पेट छेदकर देखते हैं कि कच्चा तो नहीं रह गया है। इतनी बातें होने के बाद उसका नाम लोग बड़ा रखते है। तो अब समझलो कि बड़ा बनने के लिए कितने कष्ट आते हैं और बड़ा बनने के बाद भी कष्ट छूटते नहीं हैं किन्तु बढ़ते ही जाते हैं। क्योंकि कल्पनाओं की और व्यवस्थावों की कुछ हद नहीं हे लोक में। तो काहे का बड़ा और काहे का छोटा? दुनिया में ये सब एक समान हैं।

ज्ञानी का परिज्ञान व अन्त: प्रसाद—जिसने अपना स्वरूप सँभाला, वस्तु की स्वतंत्रता का भान किया, जो कि शांति और संतोष का कारण है। ममता न रही तो अब क्लेश किस बात का? सारा क्लेश तो ममता का है घर में भी रहे तो भी कर्तव्य तो यह गृहस्थ ज्ञानी निभायेगा सेवा शुश्रूषा उपचार करेगा, पर आकुलित न होगा। हाय, अब क्या किया जाय? हमें कुछ सूझता नहीं, ऐसी आकुलता न मचायेगा। वह तो जानता है कि हमें सब सूझता है कि कितनी विकट बीमारी है। या तो अच्छा हो जायेगा या मर जायेगा। अच्छा हो जायेगा तो ठीक है और मर जायेगा तो संसार का यह तो नियम ही है। हम तो परिपूर्ण ज्यों के त्यों ही हैं। यहाँ कुछ घटता नहीं है। उसे यथार्थ परिज्ञान है क्योंकि मोह नहीं रहा। सबसे बड़ी कमाई यही है कि मोह न रहे क्योंकि कमाई के फल में चाहते हैं आप आनन्द किन्तु बाह्यवस्तुवों के संचय में आनन्द कहीं न मिल पायेगा और मोह नहीं रहा तो लो आनन्द हो गया।

परिज्ञान का फल निर्मोहता—भैया ! मोह न रहे इसके ही लिए इन सब अजीवों का वर्णन इस अधिकार में किया गया है। ये अजीव ऐसे हैं, इनका यह लक्षण है, मुझसे अत्यन्त पृथक् हैं। इनके परिणमन से मेरा परिणमन नहीं, मेरे परिणमन से इनका परिणमन नहीं। रंच भी सम्बन्ध नहीं है। यह मोही जीव स्वयं अपनी ओर से परवस्तुवों का लक्ष्य करके इस अपने अपराध से ही स्वयं बरबाद हुआ जा रहा है। दूसरा कोई इसे बरबाद नहीं कर रहा है। अशुद्धता केवल जीव और पुद्गल में होती है। धर्मादिक चार द्रव्यों में तो सदा शुद्धि ही रहती है। शुद्ध हो या अशुद्ध हो सर्वत्र द्रव्यों में स्वरूप की स्वतन्त्रता है।

स्वतन्त्रता की उपासना—ऐसे बहुत प्रकार के वर्णन में पद-पद पर स्वतंत्रता का उद्घोष किया गया है। जो पुरुष ऐसे यथार्थ स्वतंत्र स्वरूप को कंठ में धारण करेगा उसका लोक में बड़ा शृङ्गार होगा और जो जीव वस्तु के इस स्वतंत्र स्वरूप को हृदय में धारण करेगा उसकी बुद्धि बहुत पैनी बनेगी और जिसकी प्रज्ञा पैनी बनेगी वह इस समयसार को शीघ्र प्राप्त करेगा, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इन सब वर्णनों से हमें यह शिक्षा लेनी है कि मैं अन्य सर्वपदार्थों से, अतत्त्वों से निवृत्त होकर चिदानन्दमय आत्मस्वरूप में उपयोगी बनू।

❀ नियमसार प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ❀